



शब्द-शक्ति



# शब्द-शक्ति

(आचार्य मम्मट के काव्य प्रकाश पर आधारित)

लेखक

डा० पुरुषोत्तम दास अग्रवाल  
हिन्दी व्याख्याता

पी० जी०, डी० ए० वी कॉलेज  
पहाडगज, नई दिल्ली

॥

भूमिका

डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित  
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग  
पूना विश्वविद्यालय, पूना-७

रोशनलाल जैन एण्ड सस

बोरडी का रास्ता, जयपुर-३

प्रकाशक  
मुशील बोहरा  
बोहरा प्रकाशन  
बोरही बा रस्ता,  
जयपुर-३

प्रावरणकार  
श्री प्रेमचन्द गोस्वामी

प्रथम संस्करण १९७०

मूल्य १३ ०० रुपये

मुद्रक  
मुशीलाल गुप्त  
स्वदेश प्रिंटर्स,  
तेलीपाठा, जयपुर-३





## भूमिका

दार्शनिकता का ज्ञान जसा वाक्याध्यय काथ क लिए आवश्यक है वसा ही वाक्यास्वादा के लिये भी है। दार्शनिक बोध के बिना वाणी के रहस्य का उद्घाटन नहीं होता पर्ययिता के उद्देश्य की पकड़ और तदनुभूत पाठक की मनोगति सम्भव नहीं होती। किन्तु निम्नतर मधीन पदों पर सञ्चरित होती हुई कवि-भारती के स्वतन्त्र व्यापार को किसी जटिल गद्य-गान प्रिया स नहीं सम्भवा जा सकता, किसी निश्चित अर्थ की उपासना से यह प्रयत्न अर्थयान नहीं होता। ऊपर से सरल और नितास्त ऋजु दिखाई देने वाला दार्शनिक अथवा प्रत्यक्षत विसंगत जान पड़ने वाला कथन जिसे भणिति भगी क कारण अपने अर्थ में वचिन्मय के उपस्थिति कारण धन जात हैं, उसका सम्भना अगम्य भल ही न हो सहज साध्य अवश्य ही नहीं है। दनन्दिन व्यवहार में भी कथन भङ्गिमा का यह वचिन्मय निरन्तर बना रहता है, परन्तु यहाँ अतिपरिचयात् अवगा की सम्भावना ही अधिक रहती है। वाक्यादि की भूमि पर वही भङ्गिमा एक नय वातावरण का सजन करने में केवल सफल ही नहीं होती, निगूढ़ता का चाना भी धारण कर लेती है अथ के अनेक द्वार खुल पड़ते हैं, जिनमें जितना ही गहरे पटा जाय उतना ही सघन आनन्द भी आता है। दार्शनिकी ससग एक सगतिजन्य इन अर्थच्छवियों को पकड़वाना सभी पाठकों के कर्तव्य की बात नहीं, उसके लिए अभ्यस्त विशेषतः शिक्षित और हृदय सयेदन धम कुशल पाठक की आवश्यकता होती है। अथ-सञ्चार की इन दिशाओं का परिचय भावुक को सहजलभ होता है और भावक को इसके लिए अभ्यास और गिम्मा की धारण लेनी पड़ती है। दार्शनिक इसी भावक का सहारा देता है इसी के लिए दार्शनिक का गान करात हुए दार्शनिक में दार्शनिकता का विवचन किया जाता है। रसाद्गार हो या अलंकरण सरलोक्ति हो या वक्राक्ति सबत्र दार्शनिकता ही मूलस्थित दिखाई देती है। अतः वाक्यादि की सूक्ष्मता के लिए इसका गान अपरिहाय है। यही जानकर ध्वनिधार ने इसका सहारा लिया है और दार्शनिकारो के लिए भी यह अनिवाय विवेच्य विषय सिद्ध हुआ है।



वाच्यशास्त्र के सारकों में गूणाकर्ता के रूप में मूल ही न हो, निवेद्य विषयो को सारग्राहिणी प्रतिभा के बल पर नितांत संयोजित और सुगन्तित पद्धति से उपस्थित करने वाले मार्मिक शास्त्रकर्ता के रूप में आचार्य मम्मट का महत्त्व सदैव अधुण रहा है। सारगम और बहूपुत्री प्रतिभापूण लेखक के वारण ही आचार्य मम्मट ने अपने इस ग्रंथ में सूत्रों का सहारा ही नहीं लिया है, अपितु सारे विवेचन को सूत्रबद्ध भी रखा है। जिस प्रकार उ होने अपने पूर्ववर्ती भरत, भामह, यामन, हट्ट, टण्टी, आनन्दवदन आदि के चिंतन से प्रेरणा ग्रहण की है उसी प्रकार ध्वनि एवं व्यंजना विरोधी कुमारिल भट्ट प्रभाकर भट्ट घनशंभु घनिक, महिम भट्ट गुबुल भट्ट तथा भट्ट साल्लट आदि के विचारों का संपर्क भी किया है। आचार्य मम्मट की प्रतिभा जहाँ सूत्र-लेखन में उन्नत भरत के समीप बढाती है वहाँ कुम्भक, दोमन्त्र एवं भोज आदि का मूल्यांकन करने में सदाय भी प्रमाणित करती है। वस्तुतः शास्त्र विवेचन में उनकी दक्षता ने, विशेषतः ध्वनि-सिद्धांत के उनके गम्भीर विवेचन ने ही उन्हें "ध्वनि प्रस्थापक परमाचार्य" का सम्मान दिलाया है। साथ ही, मम्मट की एक भारी विवेकता है उनकी विस्तृत अध्ययन-क्षमता जिसकी सराहना हीनी चाहिए। विस्तृत-अध्ययन के कारण ही उन्होंने दृगणों की विभिन्न गणनाओं तथा व्याकरण का ज्ञान प्राप्ति किया है। साथ ही उ होने अपने पूर्ववर्ती काव्य के सम्बन्ध में भी उनमें लिये गये विपुल उद्धरणों के माध्यम से उन पर अपना अधिकार भी प्रदर्शित किया है। मम्मट के दृगी सदगुणों के कारण 'काव्य प्रकाश' की संस्कृत, हिंदी तथा अंग्रेजी में लगभग साठ टीकायें प्रस्तुत हो चुकी हैं। संस्कृत की टीकाओं की विपुल संख्या का प्रकाश के गम्भीर विवेचन की साथ ही वाचबोधिनी मात्र नहीं है। मम्मट की प्रतिभा का प्रकाश उनकी कविता में और भी अधिक झलक जाया है। काव्य के स्वरूप को प्रकाशित करने में उनके सूत्र और कविता दोनों ही महत्वपूर्ण योग देते हैं। शब्दाति का उनका विवेचन भी उतना ही सतुनित और सारग्राही है।

प्रसन्नता का विषय है वि० डा० पुरुषोत्तमदास अग्रवाल ने मम्मट के इस विवेचन को पुनर्विचार और विशदीकरण का विषय बनाया है। डॉ० अग्रवाल ने सरल भाषा में विषय का प्रतिपादन करते हुए पत्र-विपक्ष के विचारों को बोधपूर्वक पाठक के सामने रखा है मात्र मम्मट का अनुवाद नहीं किया। उ होने विषय की गम्भीरता को लक्षते हुए उस दुर्बोधता से बचाने के आशय से ही उस पर दृगण के अत्यधिक अतिश्रमण से उस बचाये रखा है।

पूर्वपीठिका में लेखक ने आचार्य भम्मट का समय, शास्त्रकृत्ताओं में उनका कृत्य और काव्यप्रकाश की टीकाओं के अतिरिक्त मूल विषय शब्दशक्ति का भी सारत परिचय दिया है। आगे के अध्यायों में डॉ० अग्रवाल ने शब्दशक्ति के विवेचन के अतिरिक्त काव्य के स्वरूप और भेदों पर भी विचार किया है। वस्तुतः उनका विवेचन सवधा सुसंबद्ध और सदभगत है। मूलतः ससृष्ट पाठ और विभिन्न शास्त्र ग्रंथों पर आश्रित रहते हुए भी उन्होंने अपने विचारों के प्रकाशन में सकोच नहीं किया है, और यही उनके विवेक का परिचायक भी है। महिम भट्ट के ध्वनिखण्डन और उसके प्रतिवाद का विवेचन सवधा एक अलग अध्याय में बड़ी स्पष्टता के साथ किया गया है जिससे ध्वनिविरोधी पक्ष के तर्कों को समझने में और भी सहायता मिलती है और ध्वनिविवेचन की गम्भीरता भी प्रकट होती है। डॉ० अग्रवाल की दृष्टि मूलतः विषय पर रही है अतएव उनसे लिये ससृष्ट का विचार सरणि ही नहीं ससृष्ट काव्यादि के शास्त्रकथित उदाहरणों का विवेचन ही महत्वपूर्ण रहा है। हिन्दी काव्य से उदाहरण देने की बात उनके मन में न उठी हा, ऐसा नहीं है किन्तु लक्षणादाहरण देने वाले कुछ हिन्दी ग्रंथों की वस्तुमानता देखते हुए उन्हें उसी रीति का अनुभव करना उचित प्रतीत नहीं हुआ, विशेषतः तब और भी जबकि वे केवल लक्षणादाहरण देने की परम्परा का पालन न करके सवधा गम्भीर विवेचन को अपना लक्ष्य बना चुके थे।

मुझे विश्वास है उनका यह विवेचन मायमिकों के लिए विशेषतः लाभकर सिद्ध होगा। डॉ० अग्रवाल के शास्त्र विवेक के इस महत्त्वपूर्ण परिणाम को समादर मिलेगा, एसा आशा है।

पूना विश्वविद्यालय  
पूना-७ (महाराष्ट्र)  
दिनांक १३-२-७०

डॉ० जान प्रकाश दीक्षित  
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग



## निवेदन

संस्कृत की एम० ए० परीक्षा में सम्मिलित होते समय आचार्य मम्मट के 'काव्य प्रकाश' का अध्ययन करने का अवसर मिला था। आचार्य की दार्शनिकता और चिन्तन की गहनता का मेरे प्रतिष्ठा पर विशेष प्रभाव पड़ा, परन्तु ग्रंथ की दुर्लभता एवं समाप्त श्लो ने मुझे जहाँ तहाँ खूब कर विचार करने को बाध्य कर दिया था। उस समय मैं इन गुणधियाँ को सुलभाने में समर्थ नहीं हो सका था, परन्तु मन में जिनासा बनी रही और मैं सतत रूप से काव्य-प्रकाश एवं तत्सम्बन्धी ग्रंथों के अध्ययन में तत्पर रहा हूँ। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरलतया प्राप्त सभी ग्रंथों एवं टीकाओं का मैंने अध्ययन किया। इन टीकाओं में काव्य प्रकाश के साथ ही अन्य ग्रंथों की टीकाएँ भी देखने को प्राप्त हुईं। बाल बाघिनी टीका (वामनाचार्य भल्लकीवर), राजस्थान प्राच्य विद्या संस्थान से प्रकाशित मुनि जिन विजय की टीका, सम्प्रदाय प्रकाशिनी टीका, सकेत टीका (माणिक्य चन्द्र) प्रदीप टीका (नागोजी), ध्वन्यालोक लोचन (अभिनवगुप्त), वाव्यादश सकेत टीका (सोमेश्वर), अवगोचर टीका (धनिक) तथा हिन्दी टीकाओं में हरिमगल मिश्र, डा० सत्यव्रत सिंह, डा० हरि दत्त और आचार्य विश्वेश्वर की टीकाओं का नाम लिया जा सकता है।

काव्य सम्बन्धी मौलिक चिन्तकों के प्रकृत ग्रंथों के दर्शन एवं मनन का भी अवसर मिला। इन ग्रंथों में नाट्यशास्त्र (भरत), काव्यालंकार (दूरट), ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन), काव्य प्रकाश (मम्मट) दश रूपक (धनञ्जय) धर्मिधाधत्तिमातका (मुकुल भट्ट), साहित्य-दण्ड (विश्वनाथ), रस गगाधर (आचार्य जगन्नाथ) आदि विभिन्न ग्रंथों को गणना हो सकती है। इन सभी ग्रंथों से पत्तियाँ उद्धृत करके प्रस्तुत विषय का समर्थन किया गया है। महा मुनि पाणिनी के सूत्रों, पतञ्जलि के महामाध्य और भट्टाजि दीनित के विचारों का भी लाभ उठाया गया है। उनके आधार पर विषय का स्पष्टीकरण और भी समुचित ढंग से करने का प्रयास किया गया है। भारतीय दर्शन का अध्ययन भी कहीं कहीं उपयोगी सिद्ध हुआ है और प्रस्तुत काव्य से सम्बद्ध दर्शन के अर्थों का विशेष रूप से मनन किया गया है। न्यायिक, न्याय न्यायिक, मोक्षासक, वेदाती, बौद्ध और व्याकरण-दर्शन के योग से विषय कुछ और सरल हो

गया है। इस दशा सम्बन्धी ग्रन्थों में तर त्रिबु, गिदोन मुतावली, बहती (प्रभाकर) 'यापरतनमाला (पाय सारथि मित्र), तन भाषा (ईश्वर वृष्ण), मोमामा-परिभाषा (रुद्रा यज्ञ), 'याय सूत्र (गीतम) जमिनीय सूत्र भाष्य (गवर स्वामी) तत्र यातिव (शुमारिल भट्ट), 'याय दान भाष्य (वासुदेव) आदि ग्रन्थों की विशेष पत्तियों की सहायता ली गई है। व्यञ्जना विरोधी भीमामवों के रण्य प्रथम म इसी कारण कुछ विन्मार नी होगया है। महिम भट्ट की अनुमान प्रशिया के रपटीकरण व लिय 'याय दान की सहायता ली गई है। विभिन्न प्रथा की उद्घृत की गई पत्तियाँ मोलिक ग्रन्थों के अध्ययन व साथ ही अय ग्रन्थो म दिए गए उद्धरण स भी ली गई हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ के विचारों से अय विद्वानों के उद्घृत प्रसर्गों एव तत्सम्बन्धी परिश्रम का नी वही कही उपयोग हो सता है।

इस ग्रन्थ के प्रणयन म 'काव्य प्रकाश' का आधार ग्रन्थ माना है। इसी के विचारो के चतुर्दिक अपने चिंतन का क्षेत्र सीमित रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे 'काव्य प्रकाश' के उही अंगो को ग्रहण किया गया है जिनका सम्बन्ध 'गण शक्ति' मात्र से रहा है। अत सम्पूर्ण काव्य प्रकाश के विचारो के अये ताओं व लिय यह ग्रन्थ उपादेय सिद्ध रही हो सवगा परन्तु 'गण शक्ति' के जिनासुओं की तप्लि में यदि यह ग्रन्थ सहायक हो सता तो में अपने को कृत वृत्य मानूँगा।

इतना और कहना अप्रासगिक न होगा कि इस ग्रन्थ की भूमिका में 'काव्य प्रकाश' एवं आचार्य मम्मट सम्बन्धी कुछ विचार व्यक्त किए गए हैं। हो सवता है कि कुछ विद्वाना एव आलोचको को यह प्रस्तुत त्रिपय के अनुरूप न प्रतीत हो पर तु इस सम्बन्ध म मरा नम्र निवेदन है कि इसक द्वारा आचार्य मम्मट क प्रति मेरी आदर जय भावना की तप्लि हो सकी है। वस्तुत इत ग्रन्थ का प्रणयन विद्वानों की समति का ही फल है। अत पाठक से अपना ही समझ कर अपनाये तथा अपनी ही भावनाओ एवं विचारो की उपयोगिता का त्रिगय मुधीजन स्वय वरें।

अ न म गद्वेष डा० आन प्रकाशजी दीक्षित का में विशेष आभारी हूँ जिन्होंने अत्यन्त पम्त होते हुए भी इस ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका लिखने का कष्ट किया है।

पुरपोतम दास अग्रवाल

नई दिल्ली

१५-२-१९७०

# पूर्व—पीठिका

## आचार्य मम्मट समय

समय—वाग्भैवतावतार आचार्य मम्मट की 'राजानक' उपाधि इस बात को स्पष्ट करती है कि वे एक काश्मीरी आचार्य थे। 'सुधा सागर' के टीकाकार भीमसेन दीक्षित का आधार ग्रहण करते हुये पीटसन महोदय ने बताया है कि आचार्य मध्यत 'कव्यट' के छोटे भाई एव उवट' के बड़े भाई तथा 'जय्यट' के पुत्र थे। 'कव्यट' महाभाष्य की प्रसिद्ध टीका 'प्रदीप' के टीकाकार थे, 'उवट' ने प्रातिसाहयो पर टीका लिखी थी भोलाशंकर यास के अनुसार उवट मम्मट के बड़े भाई नहीं हो सकते क्योंकि उवट न अपने पिता का नाम बज्जट लिखा है, जय्यट नहीं।<sup>१</sup> मि० हॉव और बेवर ने मम्मट को 'नपथीय चरित्र के कर्ता थी हप का मामा बताया है। यदि इस प्रचलित किम्बदन्ती की सत्यता में विश्वास कर लिया जाय तो मम्मट के समय निर्धारण में सरलता हो जायगी।

(i) महाकवि श्री हप के आश्रयदाता जयचन्द्र थे। इतिहासकारों ने जयचन्द्र का समय बारहवीं शताब्दी निर्दिष्ट किया है। अतः श्री हप का भी समय यही होगा और मम्मट से इनका सम्बन्ध होने के कारण मम्मट भी इसी शताब्दी के आचार्य रहे होंगे।

(ii) हमचन्द्र न काव्य प्रकाश के बहुत से उद्धरण अपने ग्रन्थ में दिये हैं आचार्य हमचन्द्र का समय १०८० के आस पास माना गया है।

(iii) मम्मट न 'भोज'<sup>२</sup> का रचण किया है और भोज का समय भी १०५५ के आस पास है। अतः इन ऐतिहासिक आधारों पर यह सिद्ध हो रहा है कि मम्मट और श्री हप समकालीन नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों के समय में इस दृष्टिकोण से काफी अंतर प्रतीत होता है। मम्मट की स्थिति श्री हप से पूर्व और लगभग १०२५-१०७५ के बीच में जान पड़ती है।

(iv) 'काव्य प्रकाश' के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य मम्मट रद्रट अभिनवगुप्त और महिमभट्ट आदि आचार्यों से परिचित थे

१ ध्वनि सम्प्रदाय और उसकी वाद पृष्ठ ४८०

२ " भोजनूपतेस्तत्याग लीलापितम्"

अथवा उनके सिद्धांतों का ज्ञान रखते थे क्योंकि रद्रट के अलंकारों का स्पष्ट प्रभाव उन पर पड़ा है। पंचम उल्लास में जिस अनुमानवादी मत का खण्डन करके आचार्य ने व्यञ्जना की स्थापना की है, वह मत सम्भवतः महिम भट्ट का ही है और इनका समय ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना गया है। अतः मम्मट और महिमभट्ट की समसामयिकता मानी जा सकती है।

(v) काव्य प्रकाश' की टीकाओं की जो अबाध परम्परा चल पड़ी थी, उन टीकाओं में प्राचीनतम उपलब्ध टीका माणिक्य चंद्र ने सन् ११५८ ई० में लिखी थी इस टीका से व्यक्त होता है कि मम्मट के ज्ञान का प्रभाव तत्कालीन विद्वानों के मस्तिष्क पर पड़ चुका था और उनके 'काव्य प्रकाश' की इतनी ख्याति हो चुकी थी कि विद्वान् लोग उस पर टीका लिखना शौर्य समझने लगे थे। इस प्रथम टीका से प्रकट है कि मम्मट निस्संदेह सन् ११६० (१२१६ स) के पूर्व रहेंगे और इस टीका लिखने के काल तक उनकी पूर्ण प्रसिद्धि हो चुकी थी।

(vi) अलंकार-सवस्व के रचयिता में भी इही दिना एक अन्य टीका काव्य प्रकाश' पर लिखी थी। इस टीका के टीकाकार रघुपट्ट का समय बाहरवी शती बताई गई है अतः मम्मट का समय निश्चित रूप से इसके पूर्व ही होना चाहिए।

इस प्रकार यह यत्न हुआ गया कि दार्शनिकों एवं विद्वानों के बीच इस 'काव्य प्रकाश' ग्रंथ की मायता ११ वीं शती तक हो गयी थी और गुजरात में वासी माणिक्य चंद्र की संकेत टीका से (११५८ ई०) यह प्रकट होता है कि काश्मीर से लेकर दक्षिण भारत तक मम्मट का इस ग्रंथ का पूर्ण प्रचार १२वीं शती तक हो चुका था। इस प्रकार इस ग्रंथ की रचना के एक शती के भीतर ही इसका प्रसार एवं प्रचार अपनी पूर्णता तक पहुँच चुका था। इससे इस ग्रंथ की महत्ता का पूर्णरूप से ज्ञान हो जाता है। और इसी आधार पर मम्मट के समय का निर्धारण भी सरलतया हो सकता है यदि बारहवीं शताब्दी तक इस पर टीकाएँ लिखी जाने लगी थी तो इसका तात्पर्य यही है कि इस समय तक आचार्य मम्मट का पूर्ण ख्याति हो चुकी थी और इस ख्याति में कुछ न कुछ कर्षों की अवधि अवश्य लगी होगी। अतः इनके पहले ही मम्मट का समय अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी के अंत तक मानना ही समीचीन होगा।

व्यक्तित्व—आचार्य मम्मट के काव्य प्रकाश' के अध्ययन से ऐसा सिद्ध होता है कि वे एक महात्त दार्शनिक थे। उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से इस ग्रंथ से व्यक्त हो जाता है। उन्होंने स्वयं अपने सम्प्रदाय में कुछ भी नहीं कहा

है परन्तु उनके सम्बन्ध में उनके टीकाकारों में बहुत सी किम्बदन्तियाँ प्रचलित हैं। इन किम्बदन्तियों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में मतभेद है। परन्तु इतना तो बिना किसी संशय के कहा जा सकता है कि मम्मट काश्मीरी से और काश्मीरी दशम के बीच रहकर उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का विकास भी हुआ था। इस बात की पुष्टि उनके इस ग्रन्थ से हो जाती है। इन पर शब्ददशम का पूर्णरूप से प्रभाव है इसके प्रत्यभिन्ना-दशम का आधार पर ही उनके 'रस दशम' की स्थापना हुई है। इसे मम्मट और काश्मीरी 'प्रत्यभिन्ना दशम' के सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है।

आचार्य मम्मट का सम्बन्ध भीमसेन दीक्षित ने (१६ वीं शती) काशी में स्थापित किया। इतना तो निश्चित है कि सभी काश्मीरी विद्वान् काशी आया करते थे, परन्तु इसी आधार पर उन्हें वहाँ का वासी या किसी भी दशा में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वे काशी आते रहे होंगे तथा वहाँ रहकर अध्ययन किया होगा।

ग्रन्थ—आचार्य मम्मट की दो रचनाएँ उपलब्ध हैं। इनमें प्रथम 'काव्य-प्रकाश' और 'द्वितीय शब्द-ध्यापार विचार है इन दोनों में दूसरा ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' के द्वितीय उल्लास का है और अधिक स्पष्टीकरण है। इनका प्रथम ग्रन्थ काव्य प्रकाश ध्वनि सम्प्रदाय का एक अत्यधिक प्रामाणिक एवं प्रस्थान ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ में ध्वनि विरोधी सभी मतों का खण्डन करत हुए काव्य सम्बन्धी अथ सम्प्रदायों को ध्वनि अंग रूप में सिद्ध किया गया है और ध्वनि के अङ्गीत्व की स्थापना गई है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में प्रचलित काव्य सम्बन्धी सभी धारणाओं का समन्वय स्थापित किया गया है।

काव्य प्रकाश में कुल १४२ कारिकाएँ और ६०३ उद्धरण हैं। इन कारिकाओं को दश उल्लासों में विभाजित किया गया है। प्रथम उल्लास में मंगलाचरण में शब्द दशम अन्तर्हित है। काव्य प्रयोजन काव्य हेतु-काव्य लक्षण और काव्य प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। काव्य के उत्तम मध्यम और अवर भेद करने वाले ये प्रथम आचार्य थे। इनके पूर्व 'काव्य' शब्द प्राप्त करने के लिये अल्कारों की उपस्थिति अनिवार्य थी अर्थात् अल्कार युक्त रचना को ही काव्य कहा जाता है। मम्मट ने ध्वनि और अल्कारों का समन्वय स्थापित किया है, जबकि ध्वनिकार न केवल ध्वनि का ही विश्लेषण किया है।

द्वितीय उल्लास में शब्द और अर्थ का विश्लेषण उपस्थित किया गया है, तीन प्रकार के अर्थ (वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य), तीन प्रकार के शब्द, वाचक, लक्षक,



व्यञ्ज) तीन की शब्द शक्तियाँ (अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना) का निरूपण किया गया है। मीमांसकों के अमिहितान्वयवाद (कुमारिल भट्ट) और अमिताभिधानवाद (प्रभाकर भट्ट) के निरूपण के साथ ही तात्पर्याय और तात्पर्या शक्ति का भी संकेत किया गया है। पुनः अभिधा, लक्षणा आदि के भेदा पर प्रकाश डालते हुए लक्षणामूला व्यञ्जना का भी निरूपण किया गया है तथा गान्धी व्यञ्जना में अर्थ के सहकारित्व का समर्थन किया गया है।

तृतीय उल्लास में अर्थ व्यञ्जना और उसके नौ भेदों की चर्चा की गई है।

चतुर्थ उल्लास में लक्षणामूला ध्वनि के भेद काव्य के भेद, ध्वनि स्वरूप और भेदों का विवेचन मिलता है। इसमें रसादि ध्वनि का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके अंतर्गत रस, भाव रसाभास भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, अर्थ सबलता और भाव शात्यादि का विवेचन किया गया है।

पंचम उल्लास में गुणीभूत ध्वन्य काव्य के भेदों का वर्णन और ध्वनि तथा व्यञ्जना निर्भर शब्दों में प्रतिपादन किया गया है। इसी स्थान पर ध्वनि विरोधी सभी शब्दों का सङ्घन अवाटय शब्दों द्वारा किया गया है।

षष्ठ उल्लास में अधम काव्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है।

सप्तम में दोषों का निर्देश है। यही पर आचार्य वामन द्वारा बताये गये दश गुणों का अर्थभाव मम्मट ने केवल अपने तीन गुणों में ही कर दिया है।

नवम् उल्लास में गद्गालकारों तथा दशम् और अंतिम उल्लास में अर्थालकारों का विस्तार से विवेचन किया गया है। मूलरूप में अपने इन अध्यायों एवं प्रतिपाद्य विषयों के साथ मम्मट ने अपने विरोधी विचारवालों का सङ्घन भी किया है।

### काव्य-प्रकाश का कर्तृत्व

काव्य प्रकाश के कर्तृत्व के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। आज तक निष्कामात्मक रूप में यह नहीं बताया गया है कि काव्य प्रकाश एक ही कर्त्ता की कृति है अथवा अनेक कर्त्ताओं का इसमें योगदान है। भिन्न भिन्न विद्वानों ने इस सम्बन्ध में विभिन्न मत दिए हैं। इन सभी पर विचार करने से यह फल निकलता है कि —

(i) 'वाच्य प्रवाण' के वृत्तिवार और चारिकारार भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् चारिकाएँ भरत मुनि की और वृत्तियाँ मम्मट की हैं ।

(ii) इसका रचना दो विद्वाना मम्मट और अल्लटगूरि न मिलपर की है ।

(iii) तीन व्यक्तियों की रचना है, इनमें अल्लव, मम्मट और रम्यव का नाम बताया गया है ।

इन सभी बातों पर त्रयण विचार किया जायगा ।

(क) प्रथम मत—चारिका और वृत्ति भाग के भिन्न वस्तुत्व की भावना सब प्रथम अंग देण में उत्पन्न हुई थी । साहित्यकौमुदीवार विद्याभूषण तथा वाच्य प्रवाण की 'आन्ध टीका के रचयिता महेश्वर ने चारिका और वृत्तिवार की भिन्नता का प्रतिपादन किया है । इन दोनों विद्वानों के अनुसार मलचारिका 'मम' भरत मुनि य । विद्याभूषण ने तो स्पष्ट शब्दों में चारिका वस्तुत्व के रूप में भरत मुनि का ही नाम लिया है ।<sup>१</sup> इसी प्रकार टीकावार महेश्वर ने भी भरत मुनि का ही समर्पण किया है अर्थात् इन्होंने भी सूत्रा का निर्माता भरत मुनि को जोर चारिका निर्माता मम्मट का माना है और कई तक गिने हैं । इसमें भी यही गिद्ध होता है कि चारिकाएँ मम्मट की न होकर भरत मुनि की ही होंगी क्योंकि बहुत सी चारिकाओं में भरत के नाटयशास्त्र की चारिकाओं से समानता है ।

समाधान—इस युक्ति में भी सजलता का अभाव ही है तथा इसकी निस्मारता स्पष्ट रूप में प्रकट हो जाती है । इसमें बरत 'परामृशति' पद का प्रयोग देखकर ही चारिका एवं वृत्तिकार की भिन्नता का प्रतिपादन किया गया है । परन्तु भेदवादियों की इस युक्ति में उनकी अपानता ही अधिक स्पष्ट हो रही है । क्योंकि कोई भी प्रथम जय अपनी ही चारिकाओं की व्याख्या स्वयं करने लगता है तो वह उनसे समय के लिये अपा को एक भिन्न व्यक्ति मान लेता है । मसूत साहित्य में इस प्रकार भिन्न व्यक्ति मानकर अथ अथवा प्रथम पुरुष के प्रयोग की प्रणाली परम्परागत रही है, तथा इस प्रणाली का

१ (i) मम्मटवृत्तिभाषित्य मित्ता साहित्य कौमुदीम् ।

वृत्ति भरतमूत्राणा श्री विद्याभूषणो व्यधात् ॥

(साहित्य कौमुदी)

(ii) सूत्राणा भरतमुनीशवर्णिताना वस्तीना मिलवपुपात्रतो मयास्याम् ।

(साहित्य कौमुदी)

विनाय समान्तर भी रहा है। विश्वनाथ<sup>२</sup> नाग<sup>३</sup> आदि सभी विद्वानों ने इस शक्ती का आधार ग्रहण किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि सस्टुत साहित्य में विद्वानों के बीच यह प्रवृत्ति अधिक प्रचलित थी और बढ़ाचित इसका अभिप्राय उत्तम पुरुष प्रयोग ज'य अहंकार 'नू यता का बताना ही इन विद्वानों का उद्देश्य था और इसीलिये प्रथम पुरुष का प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। इसी परम्परा का अनुसरण आचार्य मम्मट ने भी किया है और इसी कारण अथ पुरुष का प्रयोग यहाँ समीचीन कहा जायगा तथा इसमें भिन्न कत्तत्व की बात पुष्ट नहीं होती है।

(१) इस सम्बन्ध में एक दूसरा तर्क भी दिया जाता जा सकता है। काण महोत्प ने बताया है कि यदि वृत्तिवार और कारिकावार दो भिन्न व्यक्ति होने तो ऐसी दशा में वृत्ति के आरम्भ में भी मङ्गलाचरण अवश्य होता, क्योंकि इस प्रकार की परम्परा भी साहित्य में रही है परन्तु यहाँ पर दा मि न-भिन्न मङ्गलाचरण नहीं हैं। अतः कहा जा सकता है कि कारिका और वृत्ति भाग का भिन्न कत्तत्व सम्भव नहीं दीप्त पड़ता है और दोनों का मम्मट कृत मानना ही उचित प्रतीत होता है।

(२) भरत मुनि के रस सूत्र को उद्धृत करते हुए आचार्य मम्मट ने चतुर्थ प्रकाश में लिखा है कि 'तदुक्तं भरतन' अर्थात् भरत के द्वारा कहा गया है। यदि कारिका भाग भरत मुनि प्रणीत होता है तो यह लिखन की कोई आवश्यकता नहीं रहती और उसी गति में उस सूत्र का भी उद्धरण दे दिया जाता।

(३) भक्तियों ने कारिका और वृत्तिभाग के भिन्न कत्तत्व को सिद्ध करने के लिये एक और तर्क दिया है। दशम उल्लास में रूपक अलंकार के प्रसंग पर कहा गया है कि "समस्त वस्तु विषय श्राता आरोपिता यत्" अर्थात् जब आरोप्यमाण अथ 'ग' दत्त श्रौत होता है तो वह समस्त वस्तु विषय नामक भेद होता है। इस सूत्र की व्याख्या में मम्मट ने लिखा है कि बहुवचन मविवक्षितम् अर्थात् यहाँ बहुवचन अविवक्षित भी हो सकता है। अब पूर्व पक्षों का यह कहना है कि यदि दोनों भागों का कर्ता एक ही होता तो ऐसी दशा में पहले 'आरोपिता' में बहुवचन का प्रयोग करके पुनः उसकी व्याख्या

२ "वाग्देवताया साम्मुख्यमाधते

(साहित्य दपण)

३ 'नागेन कुरुते सुधी'

—नागेश

म स्वयं 'बहुवचन भविवन्निभम्' लिखन का कोई महत्व नहीं रहता है। वे यदि चाहते तो स्वयं कारिका में ही यह परिवर्तन कर देते। अतः इसमें स्पष्ट होता है कि कारिका मम्मट कृत न होकर भरत कृत ही है।

समाधान—उपयुक्त कथन से भेदवादियों ने भिन्नता का प्रतिपादन करना चाहा है। और कहा है कि एक कथन होने पर इस प्रकार लिखने की आवश्यकता नहीं थी। इस सम्प्रदाय में यही कहा जा सकता है कि इन पूर्व पक्षियों ने प्रस्तुत प्रसंग का अवधारण समुचित रूप से नहीं किया है। इस प्रसंग में रूपक के समस्त वस्तु विषय भेद की चर्चा की गई है कि रूपक में एक वस्तु के ऊपर दूसरी वस्तु का आरोप होता है और इन भेदों में बताया गया है कि यह आरोप अनेक वस्तुओं का भी हो सकता है। अर्थात् उनमें दो या दो से अधिक आरोप होने चाहिये और सबका शब्दतः कथन होना चाहिये। अर्थकार का यह अभिप्राय है कि अधिक आरोपों के कथन से तो समस्त वस्तु विषय भेद होगा ही। साथ ही यदि दो आरोप ही उपात्त हों, तो भी यह भेद मान लिया जायगा। इसी कथन को उसने अलग अलग कारिका और वृत्ति में लिखा है यदि दोनों स्थानों पर बहुवचन का ही प्रयोग होता तो उसका यह अर्थ लगाया जाता है यदि दो आरोपों का शब्दतः कथन हो तो वहाँ रूपक का 'समस्तवस्तुविषयक' यह भेद नहीं माना जा सकता था। इसी कथन को दूर करने के लिए इस प्रकार का प्रयोग किया गया है। यदि हमारे विपरीत मूलकारिका में ही द्विवचन का प्रयोग किया जाता तो पुनः बहुवचन में बहुत से विषयों के आरोप एक शब्दतः कथन की समस्या उठ जाती। अतः द्विवचन और बहुवचन दोनों द्वारा इस भेद को कहने के लिए ही इस प्रकार का कथन किया गया है। इसलिए वही कथन के आधार पर भिन्न-वृत्तत्व का समर्थन नहीं किया जा सकता।

(ii) रूपक अलंकार के ही प्रसंग में एक कारिका में कहा गया है कि 'साङ्गमेतन्निरङ्गस्तु शुद्ध, मालातु पूर्ववत्' अर्थात् मात्रोपमा के समान ही गानारूपक भी पूर्ववत् होता है यहाँ जिस मात्रोपमा का संकेत पूर्ववत् द्वारा किया गया है वह कारिका भाग में न होकर वृत्तिभाग में ही है। यदि कारिकाएँ भरत निर्मित होतीं तो इस कारिका भाग में प्रयुक्त 'पूर्ववत्' का संकेत कारिका में ही प्राप्त होता, परन्तु वह कारिका में न होकर वृत्ति में है और दोनों भागों का रचयिता मम्मट ही है। इसी से उन्हीं वृत्तिभाग का संकेत अपने इस कारिका में कर दिया है। अतः कहा जा सकता है कि भक्तवादियों का यह विचार कि कारिकाएँ भरत द्वारा और वृत्ति मम्मट द्वारा

लिखी गई है माय नहा हो सकता है । अपितु दोनों का कर्त्ता मम्मट को ही मानना चाहिये ।

(ख) द्वितीय मत — इस मत में भी काव्य प्रकाश के कारिका और वृत्तिकार को दो व्यक्तियों की रचना बताया गया है परन्तु कुछ आन्तर के साथ । इसके अनुसार भरत मुनि कारिकाओं के निर्माता नहीं हैं अपितु इनके स्थान पर 'अल्लटमूरि' का नाम लिया गया है । यह भी एक कामीरी विद्वान् थे तथा इनके सहयोग से ही काव्य प्रकाश की रचना पूर्ण हो सकी है परन्तु यह सहयोग किस रूप में है तथा कितना अथ अल्लटमूरि का लिखा है, इस सम्बन्ध में मतभेद है ।

काव्य प्रकाश की 'निदाना टीका' में आनन्द ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि दशम उस्तास के परिवार अलकार तक की रचना मम्मट ने तथा बाद की रचना अल्लटमूरि ने की है<sup>१</sup> । काव्य प्रकाश के अन्त में लिखे गये श्लोक की व्याख्या करते हुए टीकाकारों ने अपना भिन्न भिन्न मत दिया है कि इस ग्रन्थ का आरम्भ किसी अन्य विद्वान् ने किया था और उसकी पूर्ति विसा दूसरे विद्वान् द्वारा की गई है । शशिधरचन्द्र ने अपनी टीका में लिखा है कि यह ग्रन्थ अन्य के द्वारा प्रारम्भ किया गया और दूसरे के द्वारा पूरा किया । इस प्रकार दो शब्दों का होता हुआ भी यह अर्थ है ।<sup>२</sup> दूसरे टीकाकार रचक ने भी बताया है कि मूल ग्रन्थकार किसी कारण से ग्रन्थ को पूरा नहा कर सका अतः दूसरे व्यक्ति के द्वारा इस पूरा किया गया<sup>३</sup> । इन दोनों विचारों के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य प्रकाश के दो निर्माता थे परन्तु दूसरा कौन था इस सम्बन्ध में सन्देह होता है । इसका अर्थ यह है कि दो व्यक्तियों द्वारा रचित हान पर भी यह ग्रन्थ अग्रणी प्रणीत होता है । श्री १५० आर० विष्णु ने भी मानिक्य चन्द्र के मत को टोका है कि विचारों का समन्वय किया है कि परिवार-कार तक का भाग मम्मट की रचना है, पशु वाक्य का कारिका भाग और शक्ति के रचयिता अल्लटमूरि ही है ।

१ कन धीमम्मटाचावयवै परिवारावधि ।

अथ मम्मुरित्वा तथा विषयान्तमूरित्वा । का० प्र० । निदाना टीका ।

२ अथ काव्य प्रकाशकाराणां चरितं च समापति इति निगन्तोर्ज्ञ संपत्ता बन्धुगणानां (मानिक्य चन्द्र-भाष्ये टीका) ।

३ 'तत्र मम्मटाणां प्रथमं ह्युक्तं'

काव्यप्रकाश

परिवार-कार का भाग मम्मट की रचना है, पशु वाक्य का कारिका भाग और शक्ति के रचयिता अल्लटमूरि ही है ।

इसी सम्बन्ध में एक अन्य मत जोर प्रचलित है कि परिवर अलकार, के बाद की रचना ही वेदवत् अल्लटसूरि द्वारा निर्मित नहीं है। अपितु सम्पूर्ण ग्रन्थ ही मम्मटाचार्य एवं अल्लट सूरि या 'अलक' की सम्मिलित रचना है। श्री मण्डानाथन द्वारा प्राप्त वाक्य प्रकाश की एक पाण्डुलिपि के अन्त की पुष्पिका में लिखा है कि "इति राजानक मम्मटालकयो ।" इस आधार पर भी यह दोना की रचना सिद्ध होती है। अबु नदेव ने भा इसी बात की पुष्टि की है।<sup>१</sup> दूसरे स्थान पर भी दो वर्त्ताओ की ओर संकेत है।<sup>२</sup> और "वाक्य प्रकाशकारों" <sup>३</sup> के द्वारा दोषचन का प्रयोग भी किया गया है। संकेत टीका में एक अन्य स्थान पर पुन तीन वर्त्ताओ की चर्चा है। राजानक मरल मम्मट और रचक ये तीन नाम दिये गये हैं। इस प्रकार 'वाक्यप्रकाश' तीन व्यक्तियों की रचना है। इस तरह यह तीसरा मत भी हमारे समक्ष आ जाता है परंतु हममें कोई शक नहीं है। क्योंकि संकेत टीकाकार रचक ने अपना भी नाम इन्हीं उपयुक्त दो वर्त्ताओ के संग जोड़ दिया है। और यहाँ टीकाकार का उद्देश्य मूल ग्रन्थ का बताना न होकर 'वाक्य प्रकाश' संकेत टीका को ही बताना रहा है, और इस संकेत टीका का लिखने में तो रचक ही प्रमुख रहा है। वस सामान्यतया दो वर्त्ताओ की बात ही अधिकांश टीकाकारों में प्रचलित है।

समाधान — इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि अलक या अल्लट ने 'रचक व अलकार संवत्स्व' पर एक टीका लिखी थी और रचक ने 'वाक्य प्रकाश' पर एक दूसरी टीका लिखी है। रचक को यह टीका 'अलकार संवत्स्व' लिखने के पहले ही लिखी जा चुकी थी। अतः यह सम्भव नहीं प्रतीत होता है कि जो रचक का टीकाकार है वही वाक्य प्रकाश के मूल लेखको भी हो। इसीसे हमें मत को भी नहीं माना जा सकता है और हो सकता है कि उपयुक्त टीकाकारों में प्रचलित किसी भ्रम के द्वारा ही वाक्य प्रकाश का युग कृतत्व मान लेने की प्रथा चल पड़ी हो।

१ 'यथोदाहृत दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्यां प्रसादे वत्स्व' । अमरक शतक-टीका अबु नदेव ।

२ " किं तु ह्यादकमयावप्लव प्रसातो वाक्यप्रकाशकाराणां प्राणेषु दोषदृष्ट्या" । अबु नदेव ।

३ "इति श्रीमद्राजानकमरल मम्मट रचक विरचिते निजग्रन्थवाक्य प्रकाश संकेत प्रथम उल्लास" संकेत टीका प्रथम उल्लास की पुष्पिका ।

(ग) तृतीय मत — तृतीय मत म मम्मट, अरलट और रय्यक इन तीन कर्त्ताओं का नाम लिया गया है। स्टोन और पीटरसन जस पाश्चात्य विद्वानों ने इस मत का समयन किया है परन्तु इस मायता का कोई भी प्रामाणिक आधार नहीं है।

आजकल अधिकांश विद्वानों की मायता मम्मट के कतत्व का ही समयन करती है। इन लोगों के अनुसार काय प्रकाश की कारिकाएँ एक सभी कति भाग का एक मात्र रचनाकार मम्मट ही है, अन्य कोई विद्वान नहीं। मेरा भी यही विचार है क्योंकि काय प्रकाश ग्रंथ की शली का अध्ययन करने से उसमें भिन्नता नहीं प्रतीत हाता है। और वह एक ही कवि की लेखनी की रचना मालूम पडती है। साथ ही सभी स्थानों पर सिद्धांत की भी एकता है। यदि भिन्न कतत्व होता तो शली या सिद्धांत म कुछ न कुछ अंतर अवश्य आ जाता, परन्तु यह अंतर नहीं है। अतः निश्चयात्मक रूप से कारिका और कति दोनों भागों का रचयिता मम्मट ही है अन्य कोई नहीं। और विरायियों की भी भिन्न कतत्व वाली उत्तिया म साधकता नहीं मानी जा सकती।

दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि मम्मट न कुल १४४ कारिकाएँ इस ग्रंथ म लिखी है। यदि इनम से २३ सूनों का वही भरत निर्मित रूप आ भी गया तो इससे उसका (कतत्व) नष्ट नहीं हो सकता है। बहुधा अपन से पूर्ववर्ती विद्वानों की कुछ पतिया अबाधरूप मे आ ही जाया करती है। यदि इन पतियों के आधार पर कतत्व ही दूसरे का हा जाय तब तो काय प्रकाश की कई कारिकाएँ जो भामह के कायालकार से मिलती हैं उनके आधार पर इस ग्रंथ को भामह की भी रचना कही जा सकती है। परन्तु ऐसा हम नहीं मानते हैं अतः कारिकाकार और कतिकार वास्तव म एक ही व्यक्ति अर्थात् मम्मट ही थे।

(11) भेदवायिया ने कारिकाकार और कतिकार को अलग अलग दो व्यक्ति सिद्ध करने के लिये दूसरा यह तक लिया है कि काय प्रकाश' के प्रथम उल्लास के आरम्भ म ग्रंथकार न लिखा है कि ग्रंथारम्भे विघ्नविद्याताय समुचितेष्टदेवता ग्रंथवृत् परामृशति अयात् ग्रंथ के आरम्भ म विघ्न के विघात के लिये ग्रंथकार समुचितेष्ट देवता का स्मरण करता है। इस वाक्य म परामृशति' का प्रयाग अय पुरप क एक वचन म किया गया है। इसी पद के आधार पर पूर्व पक्षियों का कहना है कि मम्मट ही कारिका के

भी वर्ता होत तो ऐसी दशा में अपन लिये ही प्रथम पुरुष का प्रयोग कदापि न करते, अपितु इसके स्थान पर उत्तमपुरुष का ही प्रयोग करते ।

(iii) काव्य प्रकाश ने इस निरूपण के अवसर पर जिस सूत्र का उल्लेख किया गया है उसके निर्माता निस्सन्देह भरत मुनि ही हैं, क्योंकि वक्तिकार ने भी लिखा है कि "उक्त हि भरतन—" विभावनुभावव्यभिचारि सयागाद्रस निष्पत्ति 'इति' । इसके अतिरिक्त चतुर्थ उल्लास में रसो स्थायी भावों और व्यभिचारी भावों को बताने वाले सूत्र सख्या ४४, ४५ ४६ भी भरत मुनि के ही सूत्र हैं, जो नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय के १४, १७ और २१ सख्या वाले सूत्र हैं । अतः भेदवादियों का विचार यह है कि जब इतने सूत्र भरत के हैं ही तो अथ सूत्रों को भी भरतकृत ही मानना चाहिए ।

समाधान — इस सम्बन्ध में इतना तो निश्चित है कि काव्य प्रकाश के उपर्युक्त तीन सूत्र अथापि रूप में नाट्यशास्त्र में भी पाये जाते हैं । भेदवादियों के अनुसार इन सूत्रों के निर्माण की कल्पना मम्मट की न होकर भरत के मस्तिष्क की ही समझनी चाहिए । परन्तु केवल इन तीन सूत्रों के आधार पर ही सम्पूर्ण काव्य प्रकाश को भरत की रचना मान लेना समीचीन प्रतीत नहीं होता । क्योंकि अथ काई भी सूत्र नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता । अतः इन तीन ही सूत्रों के आधार पर कारिका का वक्तव्य भरत मुनि को सोपाना उचित नहीं कहा जा सकता । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि भरत की कोई अथ रचना भी रही होगी क्योंकि वही भी उमका उल्लेख अथवा उद्धरण प्राप्त नहीं होता है । अतः निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि इन तीन सूत्रों को छोड़ कर अथ कोई भी सूत्र भरतकृत नहीं है । और सभी सूत्रों के रचयिता मम्मट ही हैं । तथा उन्होंने ही स्वयं इन सूत्रों पर वृत्ति भी लिखी है ।

### काव्य-प्रकाश के टीकाकार

सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में श्रीमद्भगवद्गीता के बाद सम्भवतः मम्मट का काव्य प्रकाश ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिस पर विद्वानों की दृष्टि सबसे अधिक रही है । इसी ग्रन्थ के आधार पर मम्मट एक अमर काव्यकार के रूप में प्रसिद्ध हो गये हैं और इस ग्रन्थ के निर्माण काल के प्रारम्भ से आज तक इसके पठन पाठन की अथापि परम्परा चलती ही चली आ रही है । इसके स्पष्टीकरण के लिए उनकी टीकाएँ लिखी गई हैं और आज भी उनकी वृद्धा अवच्छिन्न नहीं हैं । आचार्य-कमलाकर ने (१६१२ ई०) तो यहाँ तक लिखा



- ४६ गदाधर ऋत टीका  
 ४७ भास्कर की 'रहस्य निवध' टीका  
 ४८ रामचरण की काव्य प्रकाश भाषाण  
 ४९ वाचस्पति मिश्र की टीका  
 ५० वामनाचाय भट्टीकर बाल बाघिनि टीका  
 ५१ हरि मंगल मिश्र की नागेश्वरी टीका

इन ससृष्ट की टीकाओं के अतिरिक्त म० म० डाक्टर गगनाथ भा ने काव्य प्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद भी किया है। इधर हिन्दी में भी टीकाओं के लिखने की परम्परा चल पड़ी है।

'काव्य प्रकाश' की हिन्दी टीकाओं में अभी सख्या अधिक नहीं हुई है। अभी तो हिन्दी के विद्वानों का कुछ ही ध्यान इधर आकर्षित हो सका है। इसी से अभी तक हिन्दी में केवल 'तार टीकाए' ही देखने को मिल सकी हैं। हिन्दी की टीकाओं के इस क्रम में सश्रयम हरिमंगल मिश्र की टीका प्रकाशित हुई थी। डा० सत्यव्रत सिंह द्वारा लिखित 'विमला गणिका' नामक हिन्दी टीका सन् १९५५ ई० में चौखम्भा ससृष्ट सीरीज से प्रकाशित हुई थी। हिन्दी की तीसरी और प्रसिद्ध टीका 'काव्य प्रकाश दीपिका' है। इसके व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर थे, जिनका जन्म १९६२ ई० में बनारस में हुआ था। यह टीका 'गण मंडल लिमिटेड, वाराणसी' से सन् १९६६ ई० में प्रकाशित हुई है। डा० हरिदत्त शास्त्री की काव्य प्रकाश की चौथी 'प्रभास्य' नामक टीका भी प्रकाशित हो चुकी है। यह टीका सन् २०१७ वि० में साहित्य भण्डार गुभाय बाजार भेरठ से प्रकाशित हुई थी।

प्रस्तुत ग्रंथ भी 'काव्य प्रकाश' के समझने में सहायक हो सकता है। यद्यपि यह ग्रंथ टीका के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है फिर भी काव्य प्रकाश की एक व्याख्या और उसके स्वरूप का निर्धारण इस ग्रंथ द्वारा हो सगा है। काव्य प्रकाश के विचारों का पूरा विश्लेषण इस ग्रंथ द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है। यदि सम्भव हो सका तो भविष्य में 'काव्य प्रकाश' की पूरा व्याख्या एवं विश्लेषण उपस्थित करने का प्रयास कर्ना परतु इस काव्य में विद्वानों का माग दान एवं भगवद् कृपा की ही प्रमुखता होगी। देख भविष्य अभी किन रूपों में और किन किन विधाओं द्वारा 'काव्य प्रकाश' की व्याख्या प्रस्तुत करता है।

## १ काय-प्रकाश की विशेषताएँ

आचार्य मम्मट संस्कृत साहित्य के उन कायशास्त्रियों में हैं जिनका ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' एक 'प्रस्थान ग्रन्थ' के रूप में सम्मानित है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यही रही है कि इसके पूव के सभी कायकारों—भरत, भामह (काव्यालंकार), दण्डी (काव्यादश) वामन (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति) छदट (काव्यालंकार), आनन्दवर्द्धन (ध्वन्यालोक), अमिनव गुप्त (ध्वन्यालोक लाघन) कुन्तक (वक्रोक्ति-जीविन) आदि की कृतियाँ का समन्वयात्मक रूप एवं विचार इसमें प्राप्त हो सकेगा। अभी तक किसी भी ग्रन्थ में काव्य का सर्वाङ्गीण चित्रण एवं विवेचन नहीं किया गया था। किसी ने केवल अलंकारों का, किसी ने केवल वक्रोक्ति का और किसी ने केवल ध्वनि की महत्ता को ही प्रतिपादन किया था। प्रथम बार इस ग्रन्थ में सब विचारों का सार संग्रह दिया गया था और सब विचारों को इसी ध्वनि की परिधि में लाकर उन्हें ध्वनि का अंग बना दिया गया। इस प्रकार ध्वनि की महाविषयता का प्रतिपादन करते हुए अलंकार, रस वक्रोक्ति और रीति को ध्वनि के ही अंतर्गत सिद्ध कर दिया गया। अतः यह कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ में पूव आचार्यों की भावनाओं एवं विचारों का समन्वय सार है तथा परिवर्ती आचार्यों की भावनाओं का एक मात्र यही प्रेरक स्रोत रहा है। अतः काव्यकारों के लिये यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें अतीत एवं भविष्य की सभी काय सम्प्रदायों का सङ्गम हो जाता है।

२ काव्य प्रकाश की दूसरी और सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सूत्र शैली या समास शैली। इस शैली को द्वारा मम्मट ने अपने दो उद्देश्यों की पूर्ति की है। (१) विषय की बहुलता का यादों में समावेश कर देना और (२) यथा सम्भव सभी मतों का स्वरूप उपस्थित करते हुए विरोधियों की भावनाओं एवं विचारों का सूत्र शैली में ही निराकरण कर देना।

इस सूत्र शैली के आधार पर आचार्य मम्मट ने बहुलता से विषयों का समावेश स्पष्टीकरण किया है उन्होंने थोड़े में बहुत कुछ कह दिया है। 'भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से आरंभ कर अपने समय तक के लगभग बारह सौ वर्षों तक के काव्य चिन्तन विषयक विचारों का सार इस ग्रन्थ में प्राप्त हुआ है। तथा भरत मुनि द्वारा कहे गये रस सूत्र और उसका व्याख्या करने वाले आचार्यों के विचारों का संक्षेप में प्रस्तुत करने में ग्रन्थकार ने अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है।



समक्ष म हमार समक्ष न आता तो सम्भवत ध्वनि सम्प्रदाय की महत्ता क समक्ष प्रश्न का चिह्न अवश्य लग जाता क्योंकि ध्वनि सम्प्रदाय के विराधियों मे महिमभट्ट और अभिनवगुप्त न अपने सबल तर्कों द्वारा उसके अस्तित्व को सशय म डाल दिया था तथा मीमांसको ने भी अपनी तात्पर्यावृत्ति द्वारा व्यञ्जना का निराकरण कर दिया था । अतः काव्यप्रकाशकार ने ध्वन्यालोक के विषय को और अधिक पुष्ट, प्राञ्जल एव सबल रूप मे उपस्थित किया तथा ध्वनि विरोधी सभी मतों का निराकरण करते हुए अतः ध्वनि की व्यापकता एव सावभौमिकता को सिद्ध कर दिया और इस प्रकार उसके अङ्गीत्व के प्रतिपादन म अपनी बौद्धिक छाया गंवाकर उसे एक अमर काव्य सम्प्रदाय के रूप म सदा-सर्वदा के लिये प्रतिष्ठित कर दिया, यदि यह काय मम्मट द्वारा न किया गया होता तो सम्भवत ध्वनि को आज की यह महत्ता स्थिर न हो पाती, इसी से आचार्य मम्मट को “ध्वनि प्रस्थापक परमाचार्य” कहा जाता है । अल्कार शास्त्र म जिम ध्वनि का प्रथम बार प्रतिपादन आनन्दवधन द्वारा किया गया था तथा अभिनवगुप्त ने जिस “ध्वन्यालोक लोचन” मे उस ध्वनि सम्बन्धी विचारा को प्रगति दी था वही ध्वनि सम्प्रदाय काव्य प्रकाश’ म आकर आचार्य मम्मट के हाथ से पूणता को प्राप्त हो गया और इसम पूर्व विद्वानों के विचार और सुयवस्थित होकर हमार समक्ष आ सके है । सक्षेप म मम्मट न भरत भामट्ट, वामन, रुद्रट, दण्डी आनन्दवधन आदि के चिन्तन स प्रेरणा प्राप्त की, अपन दाद के अल्कारिकों को प्रभावित किया तथा ध्वनि की स्थापना करने म ध्वनि एव व्यञ्जना विरोधी आचार्यों—जुमारिलभट्ट प्रभाकर भट्ट धनञ्जय, धनिक, महिम भट्ट मुकुलभट्ट, भट्ट लाल्लट आदि का लण्ण तथा कुतक क्षेमेन्द्र और भोजगज जैसे काव्यशास्त्रियों के सिद्धांता का उचित मूल्यांकन करते हुए उन्हें अपने काव्य-प्रकाश म स्थान दिया । इस प्रकार मम्मट का प्रतिभा इस ग्रन्थ म बहुमुखी होकर हमार समक्ष आयी है, इसी से मम्मट के इस ग्रन्थ के अध्ययन की परम्परा अबाध गति से आज तक चली आ रही है । इसकी सारगर्भिता सर्वमाय है, महत्ता व्यापक है और उपादेयता के सम्बन्ध म तो दो मत हो ही नहीं सकते हैं । इनम पूर्ववर्ती अल्कार शास्त्रियों के गुणों का ग्रहण और दोषों का परिमाजन है । इसी से इस एक ग्रन्थ के अध्ययन से ही काव्यशास्त्र सम्बन्धी सभी आवश्यक तत्वों का पूणतया ज्ञान हो जाता है ।

६ इस ग्रन्थ ने विचारा को पूर्वापर रूप म रखन की जो भावना रही है उससे आचार्य मम्मट की बौद्धिक प्रखरता एव बलात्मकता का भी ज्ञान हा जाता है । उन्होंने न केवल गत बारह मी वर्षों के साहित्य का मयन करते

उगरे सारभूत अंग को घटा दिया है अगिनु उनके मुख्यविषय का वे सजाया भी है उगम उग विचारों के पूर्वांतरम-अवस्था में भी एक शीघ्र है। पूर्ण विचार उगने काव्य का 'तरीखी शब्दों' मनुमानसकृति पुत्र 'वर्षा' के अनुदिश ही घूमने रहा है और इसी एक सगण के सप्टीकरण के लिये प्रथम के शब्दों उगनाओं की रचना हुई है। इन उगनाओं का अन्वयित नम को दसकर यह कहना ही उचित होगा कि आचार्य मम्मट ने नम सार घटा करके भी पद न वे अगिनु उनके सजाये में भी उगने के नमामक प्रवृत्ति सचेष्ट रही है। यथा हम काव्य सगण का सगण करने के लिये ही आग प्रयाग किया गया है। प्रथम उगनास में काव्य के सामान्य भेदों की चर्चा करने की वे पौषवें और छठे उगनास में विस्तार से नम का शीघ्र प्रति गुणीभूत ध्वन्य और चित्र काव्य प्रकार काव्यों के भेदों प्रभेदों की चर्चा की गई है। तृतीय उगनास में सगण में आये हुए शब्दों का सप्टीकरण है तृतीय में आधी ध्वन्या का भेद पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार पष्ठ उगनास तक 'काव्य और 'शब्दों' को स्पष्ट किया गया है। दोष, गुण और अलंकारों की चर्चा नम सगण सातवें, आठवें तथा नौवें उगनास में की गई है। गुणों के ही साय आठवें उगनास में रीति एव यतियों को भी समेट लेने का प्रयाग किया गया है। नवम उगनास में शब्दालंकार एक उपमालंकार तथा दशम में अर्था लंकार का यणन किया गया है। इस प्रकार सभी विषयों का समावेश से इस प्रथम की उपादेयता बहुत अधिक बढ़ गई है।

७ अभी तक का किये गये काव्य सम्बन्धी विवेचनो में काव्य और 'कला' की ही प्रधानता थी, रस या काव्य की रस सम्बन्धी अनुभूतियों की चर्चा नहीं हुई थी। 'ध्वन्यालोक' में भी ध्वनि के रहस्य को ही समझाने का अधिक प्रयास किया गया था। कुतब राजासर, दो-मद भाज आदि न भी अपने बलात्मकता का ही भव्य प्रासाद प्रस्तुत किया था, जिसमें बाह्य दान जय सौंदर्य तो था परन्तु हृदय का वशीभूत कर लेने वाली सरसता का उसमें भी अभाव ही पाया गया आचार्य मम्मट ने सवप्रथम काव्य और सहानुभूति तथा सहृदयो के अन्तर्गत में वर्तमान काव्यान-जय अलौकिकता की ओर ध्यान आकृष्ट किया और इस प्रकार काव्य विषयक चिन्तन उसके कला पक्ष से हटकर भाव पक्ष की ओर अग्रसर होने लगा, अर्थात् काव्य की रचना उस शब्दाय युगल में हुई, जिसकी योजना में कवि की लोकोत्तर यणन निपुणता सहायक मान ली गई।

८ 'काव्यप्रकाश' की एक अन्य यह विशेषता रही है कि आचार्य

मम्मट ने काव्य के स्वरूप को बनाने में किसी एक 'वाद' की सीमा या परिधि को ग्रहण नहीं किया। उनके अनुसार सभी वादों में काव्य का स्वरूप रहता है। इस सम्बन्ध में सीमा का निर्धारण उन्हें पसन्द नहीं था। काव्य का स्वरूप सभी वादों में कुछ न कुछ अवश्य प्राप्त हो सकता है। इसी से उन्होंने सबका समन्वय किया है अर्थात् काव्य के स्वरूप के स्पष्टीकरण करने के लिये उन्होंने सभी समीक्षण शक्तियों का समन्वय किया है और इस भाग में वे प्रथम आचार्य, एवं उनका ग्रन्थ प्रथम ग्रन्थ कहा जाता है।

६ मम्मट ने कहा पर भी अपने अलंकार एवं विद्वत्ता का प्रकाशन अपने ही शब्दों में नहीं किया है। उनमें अहंकारोक्ति का अभाव है। सब तो यह है कि 'काव्य प्रकाश' की विशेषता आचार्य मम्मट के गोपनीय प्रवृत्ति में ही है। उन्होंने इस ग्रन्थ में अपने पाण्डित्य को जितना ही अधिक छिपाने की चेष्टा की है, तथा इसके लिये उन्होंने सबके और सूत्र शाली को अपनाया है, उनका वह पाण्डित्य और भी अधिक निम्नरता हुआ प्रत्यक्ष होता चला गया तथा उसी पाण्डित्य के कारण उनका यह ग्रन्थ आज भी विद्वानों का कण्ठहार बना इसके पठन-पाठन की प्रवृत्ति को बताता है। अतः निस्सन्देह कहा जा सकता है कि आचार्य मम्मट का यह ग्रन्थ एक अलौकिक ग्रन्थ है और उनकी विषय प्रतिपादन करने की शक्ति एवं क्षमता में एक अलौकिकता है, जो अन्य स्थानों पर प्राप्त नहीं हो सकती है। आचार्य मम्मट का काव्य प्रकाश विचारों का एक ऐसा सन्धि-स्थल है, जहाँ उनका पूर्ववर्ती एवं परवर्ती सभी मनापियों के विचार किसी न किसी रूप में अवश्य प्राप्त हो जाते हैं। इसी से इस ग्रन्थ की महत्ता आज भी क्षीण नहीं हुई है और जब तक संस्कृत पठन पाठन की परम्परा रहेगी, तब तक इस ग्रन्थ का भी समादर होता रहेगा। संक्षेप में काव्य प्रकाश की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

१ सूत्र शाली और विषय बाहुल्य।

२ भरतमुनि से आरम्भ कर भोजराज तक के सभी विद्वानों के विचारों का सार रूप इस ग्रन्थ में है।

३ सभी सम्प्रदायवादियों को इस ग्रन्थ में उचित स्थान दिया गया है।

४ 'वनि और गुणीभूत व्यंग्य काय' दोनों प्रकार के व्यञ्जनाश्रित काव्य के भेदों तथा उदाहरणों के निरूपण के बाद उदात्त आदि साहित्यिकों की, महिम भट्टादि नैयायिकों, मुकुल भट्टादि मीमांसकों, वयाकरणों और वेदान्तियों आदि सभी व्यञ्जना विरोधी मतों का खण्डन कर वही विद्वत्ता से व्यञ्जना वृत्ति की सत्ता स्थापित की गई है।

५ दश उल्लासा मे काव्य सम्बन्धी सभी विचारा का विद्वतापुण घणन है ।

६ समावय की प्रवृत्ति व कारण ग्रन्थ की उपादेयता अधिन है ।

७ विषय प्रतिपादन की दृष्टि से पूर्ववर्ती आचार्यों के दोषा का परिभाजन करते हुए इस ग्रन्थ को पूण बनाया गया है ।

८ साहित्य शास्त्र के सभी आवश्यक शब्दों तथा शब्द-शक्ति, ध्वनि, रस, गुण, दोष, अलंकार, रीति आदि का उचित मूल्यांकन करत हुए उन सबका विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है ।

मूल ग्रन्थ व विवेचन के पूर्व शब्द शक्ति पर संक्षेप मे यहाँ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है । काव्य के स्वरूप का निर्धारण करने वाले काव्य शास्त्रियों ने जब शब्दाथ की उसका अतिवाय अग मान लिया तो उनके लिये यह आवश्यक हो गया कि वे शब्द और अथ के स्वरूपों का भी निणय करें तथा शब्दों मे किसी विशेष अथ को प्रकट करने की जो शक्ति रहती है उसका विवेचन करना भी आवश्यक हो गया अतः उनके स्वरूप का निर्धारण ऐसे काव्य शास्त्रियों के काव्य के स्पष्टीकरण के लिये आधारशिला मान माना गया । ऐसे ही लोगों मे आचार्य मम्मट भी हैं इन्होंने भी बताया है कि काव्य 'शब्द और अथ का ऐसा मिश्रण है जो निर्दोष हो गुण युक्त हो और अलंकार युक्त हो अथवा वही अलंकार रहित हो' इस परिभाषा मे शब्द तथा अथ की समष्टि को ही काव्य माना गया है । अतः इसके आधारभूत शब्द तथा अथ के स्वरूप का निर्धारण करने का उत्तरदायित्व उनके ऊपर आ गया ।

सामान्य रूप मे वाक्य के अल्पतम साधक अवयव को शब्द कहते हैं ये शब्द तीन प्रकार के अलंकार शास्त्रियों न माने हैं । वाचक लाक्षणिक और व्यञ्जक । मुख्य और प्रसिद्ध अथ को सीधे-सीध कहने वाला शब्द वाचक कहा जाता है । अभिप्रेत अथ को लक्षित करने का वाच्य लाक्षणिक शब्द का है, और व्यञ्जक प्रकरण देग काल<sup>२</sup> आदि व प्रसंग मे एक तीसरे अथ की व्यञ्जना करता है । इन तीनों प्रकार के शब्दों के तीन प्रकार के अथ वाच्य,

१ तद्दोषो शब्दाथो सगुणावनलवृत्ति पुन क्वापि—मम्मट—काव्य प्रकाश १/४

२ वक्त बोधव्य काकूना वाक्य वाच्याय सनिधे ।

प्रस्ताव देगकालावैगिण्टियात प्रतिभा जुपाम ।

योऽयस्याययधीहंतु व्यापारो व्यनितरेव सा ॥

लक्ष्य और व्यङ्ग्य हैं इन शब्दों का अपने अर्थ से विशेष सम्बन्ध रहता है। और इन्हीं सम्बन्धों से शब्दों के अर्थ का बोध होता है, और सम्बन्ध से ही उसमें एक प्रकार की शक्ति का संचार होता है, अतः शब्द की इस शक्ति का आधार पर ही लोकेच्छा के सकेत के सहाय्य से किसी अर्थ को या तो ग्रहण करता है अथवा उसे छोड़कर दूसरा अर्थ ग्रहण कर लेता है। अतः सम्बन्ध ही शब्द की शक्ति है, 'शब्दाय सम्बन्ध शक्ति'।

शब्दाय के इस सम्बन्ध को 'शक्ति' 'वृत्ति' और 'व्यापार' नाम दिया गया है, अतः शब्दाय सम्बन्ध शब्द शक्ति, शब्द वृत्ति और शब्द व्यापार सभी पर्याय माने जा सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि शब्द से अर्थ का जो बोध होता है, उसमें शब्द अर्थबोध का कारण है अर्थ उसका वाय है और यह शब्द शक्ति कारण का व्यापार है इस व्यापार को समझने के लिये निम्न लिखित वगैरे म वाटा जा सकता है —

१ वाक्यरूपों के ध्वनिवादियों के मत में तीन शक्ति अभिधा, लक्षणा व्यञ्जना।

२ मीमांसकों की तीन शक्ति—अभिधा लक्षणा और तात्पर्या।

३ भट्ट नायक के मत में तीन शक्ति—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व वाचक शब्द और अभिधा व्यापार—जो शब्द साक्षात् साकेतिक अर्थ को अभिधा शक्ति से व्यक्त करता है, उसे अभिधा कहते हैं<sup>१</sup> अर्थात् लोक व्यवहार में सकेत की महायत्ता से ही शब्द अर्थविशेष का प्रतिपादन करता है, अतः जिस शब्द का जिस अर्थ में बिना किसी व्यवधान के सकेत को ग्रहण हाता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है<sup>२</sup>। इस स्थान पर साकेतिक अर्थ की चर्चा की गई है इस सम्बन्ध में मामास्यतया तीन प्रश्न उठते हैं।

१ सकेत ग्रहण के उपाय क्या हैं ?

२ सकेत ग्रहण का विषय व्यञ्जित है या जाति ?

३ सकेत कितने प्रकार का होता है ?

सकेत के आठ साधनों की चर्चा मुख्य रूप से की गई है इनमें व्यवहार प्रमुख है क्या कि इसी के आधार पर आवापोद्वापो क्रिया के द्वारा बालक सकेत

१ साक्षात्कृतित यो धममिधत्ते स वाचक । काव्य प्रवाण २/७

२ सकेत सहाय एव शब्दाऽर्थविशेष प्रतिपादयतीति यस्य यत्र अर्थ वधाने न सक्तो ग्रह्यते स तस्यवाचक । काव्य प्रवाण तृतीय उल्लास



ग्रहण करता है। 'व्यवहार के अतिरिक्त अथ सात ग्राह्य व्याकरण, उपमान कोश, आप्तवाक्य, वाक्यनेप, विवक्ति अर्थात् व्याख्या और सिद्धपद (ज्ञात पद) का सान्निध्य है'। इनमें व्यवहार में अथ व्यक्तिक बुद्धि के आधार पर बालक की बुद्धि त्रियाशील होती है और वह किसी शब्द का अर्थ इसी साधन के द्वारा जान लेता है, अतः सकेत की सहायता से ही शब्दों द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है। अर्थात् अर्थ में सकेत का होना अनिवार्य है। यह सकेत कही तो साक्षात् होता है कही असाक्षात्। जहाँ सकेत साक्षात् होता है वहाँ शब्द की अभिधा शक्ति काय करती है और जहाँ असाक्षात् सकेत अर्थ काय करता है अर्थात् परस्पर सम्बन्ध से एक अर्थ से दूसरे अर्थ का ज्ञान होता है वहाँ शब्द की अर्थ शक्तियाँ त्रियाशील रहती हैं यानी साक्षात् सकेत वाला अर्थ जब किसी प्रयोजन विशेष से उस से सम्बन्धित किसी अप्रसिद्ध अर्थ से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है तो वहाँ अभिधा के अतिरिक्त दूसरी शक्ति काम करने लग जाती है।

उपरोक्त पक्षों में सकेत का जो उल्लेख किया गया है उसके सम्बन्ध में दाशनि की म बड़ा मतभेद है।

( १ ) व्याकरण दशम में इसके चार भेद मानते हैं, महा भाष्यकार के अनुसार शब्दों की चार प्रवृत्तियाँ होती हैं, जाति शब्द गुण शब्द त्रिया शब्द और यहक्षा शब्द।<sup>१</sup> इनमें प्रवृत्ति निवृत्ति के योग्य व्यक्ति ही होता है परन्तु उसमें सकेत 'आनृत्य' और व्यभिचार दोष के कारण न मानकर उसकी उपाधि में ही सकेत ग्रहण माना जाता है। अतः पतञ्जलि के अनुसार सकेत प्रहृत्यक्ति के उपाधि भूत जाति गुण त्रिया और यहक्षा आदि धर्मों में ही होता है। इन चतुर्विध शब्दों के विभाग का समर्थन भाष्यकार ने भी किया है।<sup>२</sup> उदाहरण के लिये यदि 'गो' स सास्नात्मान एक पिण्ड विशेष का जो बोध होता है उसका कारण उसकी जाति विशेष ही है और गोत्व जाति सव गो यत्तियों में एक ही है, इससे एक जगह सकेत हो जाने से सब गो व्यक्तियों की उपास्थिति हो जाती

१ शक्तिग्रह व्याकरणोपमान सांग्रह्य वाक्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य शेषाद् विवक्तैवदति सान्निध्यत सिद्धपदस्य वद्धा ॥

२ चतुष्टयी च शब्दानां प्रवृत्ति जाति गदा गुण शब्दा त्रिया शब्दा , यहक्षा गदाश्चतुष्टया ।

३ गो गुक्लक्षणा इत्येव इत्यादौ चतुष्टयी गदानां प्रवृत्ति इतिमहा भाष्यकार —वाच्य प्रकाश ।

है। कहा भी है कि "गौ स्वरूपत न गौ होती है और न अ गौ, अपितु गोत्व (जाति) के सम्बन्ध से ही गौ कहलाती है।" अतः वस्तु का प्राणप्रद<sup>१</sup> जीवन धायक वस्तु धम जाति कहा जाता है।

( २ ) मोक्षसाधक न केवल जाति रूप एकविध साकेतिक अर्थ को ही माना है, इनके अनुसार शब्दों की उपाधि में सकेत न होकर उनकी जाति में ही सकेतग्रह मानना उचित है और जाति या सामान्य एकाकार प्रतीति के कारण को कहते हैं। 'अनुवृत्ति प्रत्यय हेतु सामान्यम् तथा वह नित्य और अनेक में समवेत रहता है। नित्यत्वे सत्यनक समवतत्व सामान्यम्' इस प्रकार विभिन्न घट व्यक्तियों में घटत्व सामान्य, विभिन्न पाक क्रियाओं में पाकत्व सामान्य, विभिन्न वस्तुओं में आश्रित गुणत्व में गुणत्व सामान्य और विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चारित हित्यादि में हित्यत्व सामान्य ही है। अतः जाति गुण क्रिया यदृशा की उपाधियों में सकेत ग्रह न होकर इन सब में रहने वाली जाति सामान्य को ही प्रवृत्ति निमित्त मानकर उसमें सकेत ग्रह करना उचित है।<sup>२</sup>

( ३ ) न्यायिकों के अनुसार सकेत ग्रह न केवल व्यक्तियों में है और न केवल जातियों में ही है, क्योंकि जाति में शक्ति मानकर यदि उसमें व्यक्ति का आक्षेप में बोध कराया जाय तो शब्द बाध में उसका अर्थ नहीं हो सकता। शब्द के द्वारा ही शक्ति आकांक्षा पूरी होती है। अतः न्यायिक किंसा एक में शक्ति ग्रह न मानकर जाति विशिष्ट व्यक्ति में सकेत मानते हैं। न्यायिक सिद्धांत भी है कि जाति तथा आकृति में विशिष्ट व्यक्ति ही पद का अर्थ होता है<sup>३</sup> इसी को मम्मट ने 'तद्वान् शब्द द्वारा बताया है।

उपयुक्त तीनों मतों में यहाँ मुख्यतः उपयोगी विचार यह है कि शब्द का जाति भाक्षार् साकेतिक अर्थ होता है उस ही वाचक कहते हैं अर्थात् इससे जिस अर्थ का बोध होता है वह वाच्यार्थ है और इसे ही मुख्यार्थ भी कहते हैं इसी मुख्यार्थ के बोध में शब्द का जाति व्यापार होता है उसे अभिधा व्यापार कहते हैं<sup>४</sup> अतः स्पष्ट हो गया कि सकेत का अर्थ जब सीधे समझ में आ जाय तब वह शब्द वाच्य और उस अर्थ का बोध कराने वाला शब्द व्यापार अभिधा कहा जाता है।

१ न हि गौ स्वरूपेण गौ नाप्यगौ गत्वाभिसम्बन्धात्तु गौ'। वाक्य प्रतीप।

२ सर्वेषां शक्तानां जातिरव प्रवृत्ति निमित्तीत्यर्थे। का० प्र० द्वितीय उत्तराध्याय

३ व्यक्याकृति जात वस्तु पदार्थ। 'याम सूत्र २/२/६८

४ स मन्वो यस्तत्र मन्वा व्यापारात्स्याभिधाच्चत। २/६/वा० प्र०

इस अभिधेय शब्द के सामान्यतया तीन भेद होते हैं ( 1 ) रूढ़ि ( 11 ) योग और ( 111 ) योग रूढ़ि । इसी शब्द शक्ति के अनुसार शब्द और अर्थ को भी रूढ़ि, यौगिक और योग रूढ़ि कहते हैं ।

( 1 ) रूढ़ि शब्द—जिन शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं हो सकती व रूढ़ि कहे जाते हैं, और उसके बोध में अभिधा की रूढ़ि शक्ति व्यापार करती है जैसे मणि, हरि, मृग आदि ।

( 11 ) यौगिक—शास्त्रीय प्रक्रिया द्वारा जिनकी व्युत्पत्ति हो सकती है जैसे पावक गायक आदि शब्द और इसमें बोध में व्यापार करने वाली शब्द की शक्ति यौगिक शक्ति हैं ।

( 111 ) योग रूढ़ि—व्युत्पत्ति लभ्य अथ मुख्य अर्थ से संकेतित न होकर अन्य अर्थ में रूढ़ि हो जाता है जिस पक्ष अर्थात् कीचड़ में उत्पन्न होने वाला परन्तु यह कमल अर्थ में प्रयुक्त हो गया है, इसकी व्युत्पत्ति हात हुए भी यह अर्थ न मानकर दूसरा अर्थ ग्रहण करते हैं ।

लक्षणा—बताया जा चुका है कि शब्द का जो साक्षात् संकेतित अर्थ होता है वह अभिधा व्यापार का विषय है और उम अर्थ से भिन्न जो असाक्षात् संकेतित अर्थ अर्थात् संकेतित अर्थ की परम्परा से होकर जाने वाला उस से सम्बन्धित जो दूसरा अर्थ है वह अभिधा व्यापार का विषय न होकर लक्षणा व्यापार का विषय है । इसमें वाक्यादि से प्रयुक्त पदों से अर्थों का जो बोध होता है उसके अर्थ में बाधा होती है अर्थात् अवयवानुपपत्ति का होना लक्षणा का प्रथम लक्षण है । अतः तात्पर्य की उपपत्ति के लिये रूढ़ि या प्रसिद्धि का कारण या किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि करने के लिये मुख्याय से सम्बद्ध किसी अर्थ अर्थ की प्रतीति होने लगती है, यह अर्थ अर्थ ही लक्षणा है, और उसकी बोधिका शक्ति का लक्षणा शक्ति कहते हैं ।<sup>१</sup> इस लक्षणा के लिये तीन तत्त्वों का होना आवश्यक है । प्रथम मूलपायवाच द्वितीय मुख्याय का लक्ष्याय से सम्बन्ध और तृतीय रूढ़ि या प्रयोजन से अर्थतर का होना । बुद्ध लोग के अनुसार जो लक्षित होता है वह तान ही लक्षणा है । परन्तु यह कथन असंगत है क्योंकि लक्षणा तान नहीं हो सकती वह शब्द की शक्ति विनाप है । भीमासक कुमारिल भट्ट ने अभिधा से अविनामृत प्रतीति को लक्षणा माना है ।<sup>२</sup> मम्मट

१ मुख्याय बाधे तद्योगे रूढ़ि तो ऽप्य प्रयोजनात् ।

अयो-र्यो लक्ष्यते यत सा लक्षणारापिता त्रिया । २/६ का० प्र०

२ अभिधेया विनामृत प्रतीति लक्षणाच्यते ।—“लोक वादिक”

भी शब्द व्यापार को ही लक्षणा मानते हैं, अर्थात् अभिधा से अविनाभूत जा अय अथ की प्रतीति का कारण भूत व्यापार है उसे ही लक्षणा कहते हैं । जैसे कुशल पद का व्युत्पत्ति रुम्य अथ है कुशा का जान वाला परन्तु रुडि से इसका अय 'चतुर' हाता है । अतः यहाँ प्रसिद्धि के कारण साक्षात् सकेतित अथ न होने से रुडि से अय अथ हो गया इसी प्रकार 'गङ्गाया घोष' में घोष का आधारत्व गंगा की धारा में सम्भव न होने से मुख्याय बाध है और इसका अर्थ 'गङ्गा क तट पर आभीरपल्ली है यन् लिया जाता है, इसका प्रयोजन यह है कि मुख्य अर्थ से शक्य पावनत्व का बोध नष्ट हो पाता और इस प्रकार के वाक्य प्रयोग में इसका बाध हो गया । अतः सिद्ध होता है कि मुख्य अर्थ से जिस प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो पायी थी उसकी सिद्धि के लिये मुख्य अर्थ से सम्बन्धित जिस अमुरुय अर्थ से इस प्रयोजन को लक्षित किया जा रहा है शब्द का वह आरोपित शब्द व्यापार ही लक्षणा कहा जाता है, इसी का समर्थन करते हुए मीमांसा सूत्र के वाच्यकार शबर स्वामी ने कहा है कि कोई शब्द अपने अर्थ से अतिरिक्त दूसरे शब्द के अर्थ बोध में कस प्रयुक्त होता है, इसलिये कि वह अपने अर्थ से अभिधा के द्वारा किसी भी अर्थ अथ को किसी न किसी प्रयोजन के लिये ही प्रतिपादित करता है ।

लक्षणा भेद—प्रारम्भ में लक्षण के कवल दो भेद किये गये हैं शुद्धा और गौडी बाद में अन्तर भेदों के आधार पर मम्मट ने कुल छ भेद किये हैं साहित्य दण्डकार विश्वनाथ के अनुसार अन्तर भेदों सहित लक्षणा के सोलह भेद हैं । इसके पूर्व कि इनके अन्तर भेदों का ज्ञान हो, इन दोनों के स्वरूप का ज्ञान हो जाना आवश्यक है । गौडी और शुद्धा लक्षणा के दोनों भेदों में तीना तत्वों मुख्याय बाध मुख्याय सम्बन्ध और रुडि या प्रयोजन में से अर्थ का होना आवश्यक है । दोनों में वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ का अभेद रहता है, इन दोनों में मम्मट के अनुसार प्रमुख भेद यह है कि शुद्धा में उपचार का मिश्रण नहीं होता । गौडी में उपचार यानि सादृश्य का होना आवश्यक है । दूसरा भेद यह है कि शुद्धा लक्षणा में तद्योग (लक्ष्यार्थ का मुख्याय से योग) सादृश्येतर सम्बन्ध से रहता है वह सम्बन्ध कारण कवचक सामिप्यादि और अङ्गाङ्गि भाव सम्बन्ध रहता है गौडी में यह तद्योग साम्य सम्बन्ध पर रहता है इसी को उपचार कहते हैं । जब दो पदार्थों में साम्य के कारण उनका

भेद गान समाप्त हो जाय तो वहा उपचार होता है। इसमें रूप्य अन्वार का प्रयोग दला जाता है, सादृश्य बाल दाना पदार्थों में एक आरोग्य विषय और दूसरा आराम्यमाण हाता है, उदाहरण के लिये गौर्वाहीक ' तिहो माणवक ' आदि में प्रमग मौग्यादि जीर शौर्यादि के सादृश्य के कारण अन्व को स्थापना हुई थी । गौडी लक्षणा के इस सादृश्य का भी एक विशेष प्रयोजन है कि बाह्य की मूलता का आरोप बल की मूलता में करना हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति करना है । अतः गौडी वक्ति व साथ निमित्त या प्रयोजन अवश्य होगा । उपर्युक्त उदाहरण में शौर्यादि के सादृश्य की प्रतीति करना ही प्रयोजन है और 'यह वच्चा शर है' वाक्य में वच्चे में शौर्य—आदि के सादृश्यातिशय के कारण यह प्रयोग उपचार मूलक है, इसलिये इसमें गौण प्रयोग है जीर गौण लक्षणा है इस प्रकार मम्मठ के अनुसार उपचार के अमिश्रण में शुद्धा और मिश्रण में गौडी लक्षणा मानी जायगी ।

मुकुल भट्ट गुडा और गौणी के इस भेद को न मानकर दानो में ही उपचार को मानते हैं इसलिये उन्होंने गुडोपचार और गौणोपचार भेद से उपचार मिश्रा लक्षणा के दो भेद किये हैं । और पुन उनके सारोपा और साध्यवसाना भेद किये हैं । इस प्रकार गुडा के उपादान और लक्षण लक्षणा के दो भेदों को मिला करके कुल लक्षणा में छ भेद ही जाते हैं । इसी का समर्थन मुकुल भट्ट ने अपने ग्रन्थ में किया है । इस स्थान पर उपचार का अर्थ अय के लिये अय का प्रयोग है । इस प्रकार जहाँ सादृश्य के आधार पर अय के लिये अय का प्रयोग होता है गौणोपचार और जहाँ सादृश्य से भिन्न काय कारण भाव आदि के कारण अय के लिये अय का प्रयोग किया जाय वहाँ गुडोपचार कहा जाता है । जैसे आयुध तम में आयु के कारण मूत आयु के लिये धत ही कहा गया है, यहाँ पर काय कारण भाव सम्बन्ध है । अतः यहाँ गुडोपचार हुआ और ' गौर्वाहीक ' में सादृश्य के कारण गौणोपचार है । अतः गुडा और गौणी दानो में ही उपचार है । मुकुल भट्ट ने इन दोनों के भेद निम्न तादृश्य सिद्धांत स्वीकार किया है । इनके अनुसार गुडा लक्षणा (लक्षणा उपादान) के भेदा में वाच्याय लक्ष्याय स सददा

१ अत्यन्त विगबलितया सादृश्यतिगममहिम्ना भेद प्रतीति स्यगन उपचार ।

२ द्विविध उपचार गुडो गौणश्च । तत्र शुद्धो यत्र मूतभूतस्योप मानोपमेयभाषस्याभावनोपमानगत गुण सदृश्यगुणयागलक्षणासम्भवात् कारण काय भावति सम्बन्धाल्लक्षणाया वस्तुत्तरमुपचय ते । यथा आयुध तमिति । अन्विषावक्तिमातवा । पृष्ठ ७-८

तटस्थ रहा करता है। प्रतीति का कोई उपराग नहीं। इसका खण्डन करते हुये मम्मट ने लिखा है कि गुद्धा लक्षणा क दो भेदों में लक्ष्य अथ और लक्षक अथ का भेद प्रतीति रूप ताटस्थ्य नहीं है क्योंकि गङ्गादि शब्दों के द्वारा तटादि का उस प्रकार प्रतिपादन करने में अभेद की प्रतीति होने पर भी असीष्ट अभिप्राय की प्रतीति हो सकती है।<sup>१</sup>

ऊपर कहे गये गुद्धा लक्षणा के कार्यकारण अङ्गाङ्गी भाव और सामोप्यादि से भिन्न लक्षणा के अर्थ नियमों की भी चर्चा की गई है इनमें तादर्थ्य सम्बन्ध स्व स्वामिभाव सम्बन्ध (गजकीय पुरप राजा) अन्वय अन्वयी विभाग सम्बन्ध (अग्रहस्थ हस्त) तात्कर्म्य सम्बन्ध (जलक्षताक्षा) भी गुद्धा लक्षणा कहे गये हैं। इनके द्वारा भी गुद्धा और गौडी का भेद लक्षित किया जा सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि मम्मट के अनुसार गुद्धा के चार भेद (लक्षण, उपादान सारोपा, साध्यवसाना) तथा गौडी के दो भेद सारोपा और साध्यवसाना माना जायगा तथा इनका भेद सादृश्य सम्बन्ध से गौडी और सादृश्येतर से गुद्धा लक्षणा होगी<sup>२</sup> परन्तु मुकुल भट्ट ने छ भेद माने हैं परन्तु घाटे अन्तर के साथ उनके अनुसार गुद्धा और उपचार युक्ता लक्षणा में गुद्धा के उपादान और लक्षण लक्षणा तथा उपचार के गद्धापचार और गौडीपचार और इत दाना में प्रत्येक के दो दो भाग आरोप और अयवसाना से चार भेद होकर कुल छ भेद हो जाते हैं।

इनमें गुद्धा लक्षणा में लक्षण लक्षणा वहाँ होगी जब दूसरे अर्थ की सिद्धि के लिये अपने अर्थ का समर्थन कर लिया जाय जस गङ्गाया शेष में गङ्गा शब्द अपने प्रवाह रूप अर्थ का परित्याग कर देता है और तट का लक्षित करता है। तथा उपादान लक्षणा में अपने अर्थ की सिद्धि के लिये दूसरे अर्थ का आशेष कर लिया जाता है जैसे कुन्ता प्रविशन्ति यष्टय प्रविशन्ति में कुन्ता से कुन्तपारी पृथ्वी का आशेष कर लिया जाता है। यही पर मुकुल भट्ट (मीमांसक) के उपादान लक्षणा के दोना उदाहरण गौरमुवच्य तथा

१ अनमोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूप ताटस्थ्यम तटादीना हि गङ्गादिशब्द प्रतिपादने तत्प्रतिपत्तौहि प्रति पिपाशयीपित्त प्रयोजन सम्प्रत्यय का० प्र०

२ भेदा विभो च सादृश्यात् सम्बन्धात्तरस्य च

गौडी गौडी च विभो च लक्षणातेन पञ्चिद्या । १२ । १२ का०प०

'वीणा दक्षता' का अर्थ है कि वे वाद्य यंत्रों का गायन किया गया है। वाद्य यंत्रों का गायन मन्त्रों का प्रयोग मन्त्रों का अर्थ है। अतः अविनाशनीय मन्त्रों का प्रयोग आरोग्य के लिए तथा मन्त्र उपाहरण का अर्थ है प्रमाण का करणी है।

गौरी गायत्री का उपाहरण और उपाहरण का अर्थ है कि वे वाद्य यंत्रों का गायन मन्त्रों का प्रयोग मन्त्रों का अर्थ है। अतः अविनाशनीय मन्त्रों का प्रयोग आरोग्य के लिए तथा मन्त्र उपाहरण का अर्थ है प्रमाण का करणी है।

गुण्डा मन्त्र का अर्थ है कि वे वाद्य यंत्रों का गायन मन्त्रों का प्रयोग मन्त्रों का अर्थ है। अतः अविनाशनीय मन्त्रों का प्रयोग आरोग्य के लिए तथा मन्त्र उपाहरण का अर्थ है प्रमाण का करणी है।

लक्षणा का अर्थ है कि वे वाद्य यंत्रों का गायन मन्त्रों का प्रयोग मन्त्रों का अर्थ है। अतः अविनाशनीय मन्त्रों का प्रयोग आरोग्य के लिए तथा मन्त्र उपाहरण का अर्थ है प्रमाण का करणी है।

या तात्पर्या से न मानकर व्यञ्जना नामक एक अलग वृत्ति से माना है, जिसका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन काव्य प्रकाश के पञ्चम उल्लास में किया गया है। मम्मट ने पूण विद्वांस के साथ द्वितीय उल्लास में भी कहा है कि जिस पुष्पत्व मनोहरत्व रूप प्रयाजन विशेष की प्रतीति करान के लिये लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, शब्द से गम्य उस परम रूप प्रयाजन के विषय में व्यञ्जना के अतिरिक्त और कोई शब्द का भिन्न व्यापार नहा हो सकता है<sup>१</sup>। व्यञ्जना व्यापार के द्वारा ही प्रयोजन का बोध क्या होता है इसका प्रतिपादन काव्यिका १६-१८ तक में मम्मट ने किया है इस प्रकार इस मत की स्थापना की गई है कि उस व्यञ्ज रूप प्रयोजन के विषय में जिस शब्द शक्ति के द्वारा इसका बोध होता है, वह लक्षणा से अतिरिक्त व्यञ्जना शक्ति के द्वारा ही साध्य है और उसे व्यञ्जनात्मक व्यापार कहते हैं। इस प्रकार व्यंग की दृष्टि से लक्षणा के जो तीन भेद अव्यय या गूढव्यय या और अपूर्णव्यय बताये गये हैं उसमें व्यंग्य अर्थ की सिद्धि करन वाला शब्द का व्यापार ही व्यञ्जना व्यापार कहा जाता है।<sup>२</sup>

इस व्यञ्जना के दो प्रमुख भेद हैं। १) आर्षी व्यञ्जना और आर्षी व्यञ्जना। सा दो व्यञ्जना में भी दो भेद अभिधा मूला और दूसरी लक्षणा मूला अभिधा मूला (विवक्षित वाच्या) के भी अमलदयक्रम व्यञ्जय और सलदय व्यञ्ज ये दो भेद हैं। इनमें असलदयक्रम व्यञ्जय रसादि ध्वनि ही हैं और सलदयक्रम व्यंग्य के अतगत शब्दशक्त्युत्थ अथ शक्त्युत्थ और उभय शक्त्युत्थ य तीन भेद हैं। इनमें शब्द—शक्त्युत्थ व वस्तुध्वनि और अलकारध्वनि, तथा अथशक्त्युत्थ के १२ अन्तर उपभेद और उभय शक्त्युत्थ के ६ भेद अर्थात् सलदयक्रम व्यंग्य के १५ और अमलदयक्रम मिला कर कुल १६ भेद अभिधामूला व्यञ्जना के होते हैं। विवक्षित वाच्य अर्थात् लक्षणा मूला ध्वनि के कुल दो भेद अर्थात्तर सक्रमित और अत्य त तिरस्कृत नाम से है।

आर्षी व्यञ्जना के दस भेद हैं जो वक्ता बोद्धा वाक्य, वाक्य, वाच्य, अथ सन्निधि प्रस्ताव दस काल और आदि के वगैरह्य से अर्थात् की

१ यस्य प्रतीतिमाघातु लक्षणा समुपारयते । २/१४

फले शब्दकाम्येऽत्र व्यञ्जनाशापराक्रिया २/१४ का० प्र०

२ ध्ययेन रहिता रूढी संहितानु प्रयोजने ।

तच्च गूढमगूढवा तदेवा कथिता त्रिधा ।

तद्भूमन्निधिक तत्र यापारो व्यञ्जनात्मक २/१३, १४ का० प्र०



“पीतो द्यस्तता त्रिा त पुा का गण्ण त्रिया गया ३ तथाकि इन दानों म रुद्रि या प्रयाजा म ग का भो ण तदा है । अग्निु प्रियाभाय गम्भय म इगता आशेष म वाप हाता है तथा एत उदाहरण म अर्थाति प्रमाण वाप करती है ।

गौरी सारोपा पनी हागी जहाँ उपमान और उपमय शक्त बह गय हा और जर आराप्यमात ए तारा आराप विषय (उपमय) का निगरण हा जाय तो वही साध्यवसाना अर्थात् योगा एव प्रकार आरोप म एत अन्तार और साध्यवसाना म साक्षात्तयोति नाम तस्ता है जा प्रथम का उदाहरण ‘गोर्गहोत्र’ और द्वितीय का गौत्र पति (गौर्यम्) है । गौजलति म उपमान गो न याहीर उपमय का निगरण पर त्रिया है और यह निगरण साध्य क आधार पर है अत गौरी साध्यवसाना ४ ।

गुद्धा म सादृश्यतर गम्भय पर आरोप और जध्यवसान होता ह । यह कारण वाप तात्पर्य्य आति पर तिभर रहता है । उदाहरणत आयुष तम म कारण वाप सम्प्रथ हान पर आरोप्यमाण आयु और आरोप विषय घृत दानों का गण्ण कथन है और एक का दूग्ध पर आरोप किया गया है । अत गुद्धासाराप लक्षणा है तथा आयु पिनामि (आयुरवाम्) आरोप विषय घृत का गण्ण कथन न होने पर तथा कारण वापभाव सम्प्रथ हान पर गुद्धा साध्यवसाना ल गणा हागा । इम प्रकार यहाँ तक लक्षणा क छ भेदो का वणन किया गया है । इगवा समथन मुकुलभट्ट क आधार पर मम्मट ने भी “लक्षणातेन पहविधा” क कथन द्वारा किया है ।

लक्षणा के सम्प्रथ म रुद्रि और प्रयोजनवती जिन दाम अन्तर का होना आवश्यक बताया गया है उनम प्रयोजनवती लक्षणा का बोध किस गति द्वारा होता है इस सम्बन्ध मे आचार्यों म बडा मतभेद है । ध्वन्यालोकवार ने प्रयोजनवती लक्षणा मे प्रयोजन को व्यञ्जना गम्भय माना है । मम्मट नेभी इसी का अनुसरण किया है परन्तु मुकुल भट्ट व्यञ्जना जसी किसी गति को नही मानते । व इन दानो को लक्षणा का प्रयोजक हेतु मानते हैं और इस प्रकार प्रधाजन की प्रतीति भी लक्षणा से ही मानी गयी है यथा अत्र च लक्षणाया प्रयोजन तदस्य गन्नात्ववाथ समवेता सविपातपद पुण्यत्व मनोहरत्वात् प्रति पादनम । न हि तत पुण्यत्व मनोहरत्वादि स्वगौ स्पष्ट शक्यते’ इन पतियो द्वारा पुण्यत्व मनोहरत्व का प्रतिपादन लक्षणा से ही मुकुल भट्ट ने माना है और उनकी प्रतीति स्व शब्द द्वारा अमिधा से नही हो सकती । यह भी उनका मत है, परन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने इम प्रयोजन की प्रतीति अमिधा लक्षणा

या तात्पर्या से न मानकर व्यञ्जना नामक एक अलग वृत्ति से माना है, जिसका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन काव्य प्रकाश के पञ्चम उल्लास में किया गया है। मम्मट ने पूण विस्वास के साथ द्वितीय उल्लास में भी कहा है कि जिस पुण्यत्व मोहोदरत्व रूप प्रयोजन विशेष की प्रतीति करान के लिये लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, शब्द स गम्य उस फल रूप प्रयोजन के विषय में व्यञ्जना के अतिरिक्त और कोई शब्द का भिन्न व्यापार नहीं हो सकता है<sup>१</sup>। व्यञ्जना-व्यापार के द्वारा ही प्रयोजन का बोध रचा जाता है, इसका प्रतिपादन कारिका १६-१८ तक मम्मट ने किया है इस प्रकार उस मत की स्थापना की गई है कि उस व्यञ्ज रूप प्रयोजन व विषय में जिस शब्द शक्ति के द्वारा इसका बोध होता है, वह लक्षणा स अतिरिक्त व्यञ्जना शक्ति के द्वारा ही साध्य है और उसे व्यञ्जनात्मक व्यापार कहते हैं। इस प्रकार व्या की दृष्टि स लक्षणा के जो तीन भेद अव्यय या गूढमग या और अगूढमग बताये गये हैं उसमें व्यय अथ की सिद्धि करने वाला शब्द का व्यापार ही व्यञ्जना व्यापार कहा जाता है।<sup>२</sup>

इस व्यञ्जना के दो प्रमुख भेद हैं। १। शब्दी व्यञ्जना और अर्थी व्यञ्जना। शब्दी व्यञ्जना के भी दो भेद अभिधा मूला और दूसरी लक्षणा मूला अभिधा मूला (विवक्षित वाच्या) के भी अमलक्षत्रम व्यञ्जय और सलक्ष्य व्यञ्ज ये दो भेद हैं। इनमें असलक्ष्यत्रम व्यञ्जय रसादि ध्वनि ही हैं और सलक्ष्यत्रम व्यञ्जय के अंतर्गत गद्यशक्त्युत्थ अथ गत्व्युत्थ और उभय शक्त्युत्थ ये तीन भेद हैं। इनमें शब्द—गत्व्युत्थ व वस्तु शक्ति और अलकारध्वनि, तथा अथगत्व्युत्थ के १२ अवान्तर उपभेद और उभय गत्व्युत्थ के ६ भेद अर्थात् सलक्ष्यत्रम व्यञ्जय के १५ और असलक्ष्यत्रम मिला कर कुल ३१ भेद अभिधामूला व्यञ्जना के होते हैं। विवक्षित वाच्य अर्थात् लक्षणा मूला ध्वनि के कुल दो भेद अर्थात् सन्नमित और अत्य त तिरस्कृत नाम स है।

अर्थी व्यञ्जना के दस भेद हैं जो वक्ता, वाढा, कावृ, वाक्य वाच्य, अथ सन्निधि, प्रस्ताव, देग, काल और आदि के वगैरह स अर्थार्थ की

१ यस्य प्रतीतिमाघातु लक्षणा समुपास्यते । २/१४

कले शब्दवगाम्ये त्र व्यञ्जनाप्रापरात्रिया २/१४ का० प्र०

२ व्ययदेन रहिता ऋद्धी सन्निधौ प्रयोजन ।

तच्च गूढमगूढवा तदेषा वक्षिता त्रिधा ।

तद्गूढमगूढमग तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मक २/१३, १४ का० प्र०

प्रतीति करता है । इस अथाथ की प्रतीति कराने वाला जो अथ का व्यापार है उसे आर्थो यजना कहते हैं<sup>१</sup> यह आर्थो व्यञ्जना कभी वाच्य सम्भवा कभी लक्ष्य सम्भवा और कभी व्यग्यसम्भवा होती है ।

जब वाक्य के वाक्याथ स अथ अथ की व्यञ्जना हाती है तो वाच्य सम्भवा आर्थो व्यञ्जना हागी । यदि इसका पर्याय भी रख दिया जाय तो इसमें कोई अन्तर नहीं आता । जैसे चित्रपट के प्रतिदिन के देखने वाले व्यवसनी से यदि कहा जाय अब साध्या हो गई है, तो यहाँ व्यग्य अथ निकलता है, कि अब चित्रपट देखने चलो और यह बोझा के आधार पर है । साध्या का यदि पर्याय रख द तो भी व्यग्य बोध में अन्तर नहीं आयेगा । इसी प्रकार लक्ष्य सम्भवा व्यञ्जना में श्रोतवशिष्ट्य होता है यथा यदि कोई पिता अपने पुत्र के अयोग्य शिक्षक से कहे कि लड़का अब पहले से बहुत अधिक सुधर गया है, तो यहाँ विपरीत लक्षणा से लड़का बिगड़ गया है यह अथ होगा, तथा शिक्षक की अयोग्यता यहाँ व्यग्य है । यदि सुनने वाला शिक्षक के अतिरिक्त और कोई होगा तो इसमें व्यञ्जना नहीं हो सकेगी । इस उदाहरण में लड़का बिगड़ गया है—इस लक्ष्याथ से यह ध्वनित हाता है कि शिक्षक अयोग्य है । यहाँ ध्यान देने की बात है कि आर्थो व्यञ्जना में कोई न कोई वशिष्ट्य अवश्य होना चाहिए तथा लक्ष्य सम्भवा आर्थो व्यञ्जना के साथ लक्षणा मूला शाब्दी व्यञ्जना भी रहेगी<sup>२</sup> क्योंकि लक्षणा का प्रयोजन जो व्यग्य रहता है उसके लिये शाब्दी रहती है और जो दूसरा व्यग्य लक्ष्याथ द्वारा प्रतीत होता है उसके लिये आर्थो व्यञ्जना होती है । उाधु त उदाहरण में पुत्र के अविनय का पान लक्षणा मूला शाब्दी व्यञ्जना अत्यत (तिरस्कृतवाच्यध्वनि) से प्रकट होता है और शिक्षक की अयोग्यता और अपराध की व्यञ्जना लक्ष्य सम्भवा आर्थो व्यञ्जना क द्वारा सूचित होती है ।

व्यापार सम्भवा आर्थो व्यञ्जना वहाँ हागी जब एक व्यग्याथ दूसरे व्यग्याथ को सूचित करे । जैसे यदि अद्द रागि में भागने का विचार करने वाले दो चोरो में एक कहे दलो रजनीगघा महक रही है तो व्यग्य में इसका अथ

१ वक्तवाथव्यकारूना, वाच्यवाच्याय सन्निधे ।

प्रस्ताव देगकालात्वेगिष्टयात् प्रतिमाजुषाम् ।

यो यस्याथधोहेतु-व्यापारो व्यतिरेवसा ३/२१-२२

२ गन्प्रमाणवशो-र्थो ध्यनकत्यर्थात्तर यत् ।

अथस्य व्यञ्जकत्व तत्त गन्प्रम सहकारिता ३/२३ का० प्र०

रात्रो हो गई, यह अर्थ लिया जायगा और उससे हमरा व्यय यह निकला कि अब भाग जाना चाहिए। इस प्रकार सभी वाच्य लभ्य और व्यय्य अर्थ में निर्विवाद रूप से व्यय्यत्व रहता है<sup>१</sup>। इस आर्यी व्यञ्जना का व्यापार सदा गल्ल निष्ठा होता है परंतु यह शब्द अर्थ का सहकारी होता है। इस प्रकार शब्दी व्यञ्जना में भी अर्थ का सहयोग होता है क्योंकि वह व्यञ्जना शब्द दूसरे अर्थ के योग से उस प्रकार का अर्थात् दूसरे अर्थ का व्यञ्जक होता है अतः उसका साथ सहकारी रूप में अर्थ की व्यञ्जकता भी स्वयं सिद्ध हो जाती है।<sup>२</sup>

सभी आर्यी व्यञ्जना के जो वक्ता, बोद्धा, वाकु आदि के वशिष्ठ्य में जिन दश प्रकारों की चर्चा की गई है, उन सभी प्रकारों में व्यञ्जना का व्यापार अर्थ ही होता है और उनमें कोई न कोई विशिष्टता अवश्य रहती है। इनमें वाकु का अर्थ कण्ठ की ध्वनि से है आदि से चेष्टा का ग्रहण करना चाहिए। शेष स्पष्ट है। वक्त-वशिष्ठ्य में वक्ता का प्राणाय और बोधव्य वशिष्ठ्य में बोद्धा का प्राणाय विवक्षित होता है इसी प्रकार वाच्य-वशिष्ठ्य वहाँ होगा जहाँ वाक्य का प्राणाय विवक्षित हो और जहाँ वाच्य अर्थ का प्राणाय विवक्षित होगा वहाँ वाच्य वशिष्ठ्य माना जायगा। अतः इस भेद का मूल आधार विवक्षा ही है।

लक्षणामूला शब्दो व्यञ्जना— लक्षणा के प्रसंग में बताया गया है कि शक्ति और प्रयोजनवती लक्षणा में से प्रयोजन व्यय्य रहता है और इसे उदाहरणों द्वारा सिद्ध भी किया जा चुका है। इसमें प्रयोजन या व्यय्याय का सूचित करने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है। इस लक्षणा के द्वारा प्रयोजन की जो प्रतीति होती है, उसमें शब्द की जा शक्ति काम करती है उस लक्षणामूला शब्दी व्यञ्जना कहते हैं। इस प्रयोजन की प्रतीति सबके का अभाव होने में अभिधा द्वारा सम्भव नहीं है। लक्षणा के तीनो हेतुओं के अभाव में उस प्रयोजक सामग्री के न होने से प्रयोजन का बोध लक्षणा से भी नहीं हो सकता है। केवल लक्षित अर्थ में अर्थात् 'गङ्गाया घोषः' वाक्य में पहल लक्षणा में तट का बोध और घाट में लक्षणा मूला व्यञ्जना से शक्य पावनत्वात् प्रयोजन की प्रतीति हाती है। अतः तत्र आदि में जो पावनत्वादि

१ सर्वेषां प्रायः सार्यानां व्यञ्जकत्वमपिष्यते ।

२ यतः सोऽर्थान्तरं युक्तया ।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः । २/२०

-

1

1

## काव्य का स्वरूप

काव्य के स्वरूप का निर्धारण करते हुये आचार्य मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को ग्रहण कर उत्तरवर्ती लोगों को प्रभावित किया है। उनमें दोना का सफल समन्वय दिखाई पड़ता है। एक ओर तो उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा माय परिभाषा के आधार पर अपना मत दिया है और दूसरी ओर उनका काव्य लक्षण के आधार पर उत्तरवर्ती लोगों ने या तो उनकी उस परिभाषा का तण्डन मण्डन किया है अथवा कुछ अंतर के साथ अपनी परिभाषा दी है।

मम्मट के पूर्व आचार्य भामह और दण्डी दोनों ने ही 'शब्दार्थ' में काव्य का स्वरूप देखा है। इ होने अलङ्कार को काव्य का सवस्व मानते हुये उसके बना पक्ष पर ही अधिक ध्यान दिया है। इस प्रकार साहित्य की भाषा सामान्य से भिन्न अलङ्कृत भाषा मानी गयी है आगे चलकर इस अलङ्कारवाद की समीक्षा में वामन ने रीतिवाद का प्रचार किया और 'विशिष्ट पद रचना का ही रीति कहा है' इसमें अलङ्कारों की महत्ता न होकर उसके सौन्दर्य की महत्ता है। उन्होंने सौन्दर्य के रूप में ही अलङ्कार को माना है। अलङ्कृति रत्नद्वार का मही रहस्य है। इस प्रकार आचार्य वामन के द्वारा एक समन्वयात्मक दृष्टि अपनाई गई है, जिसमें दण्डी और भामह का अलङ्कार रीति के सौन्दर्यवद् रूप में आया है। आचार्य वामन के मत में भी काव्य सामान्य रचना की न होकर विशिष्ट पद रचना में ही रहती है।<sup>१</sup> अर्थात् काव्य में 'विशिष्ट श्लेष का ही महत्त्व होता है।

इन सबका समन्वय करने के लिए आचार्य कु तक ने सन्नोतिवाद का प्रवर्तन किया। अभा लक सौन्दर्य या विशिष्ट पद रचना पर ही आचार्यों का ध्यान था। सौन्दर्य की मानसिक अनुभूति होती है इस पर ध्यान नहीं गया था। श्लेष की विशिष्ट रचना से भी हृदय पर एक प्रभाव पड़ता है, परन्तु

<sup>१</sup> काव्यलङ्कार सूत्र वृत्ति १/१/२

<sup>२</sup> काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति १/२/२१५

कवि की कलात्मकता का स्पष्टीकरण अभी तक न हो पाया था। इसी कमी की पूर्ति आचार्य कु तक द्वारा की गई। इन्होंने कवि की कृति का महत्व कला के रूप में माय ठहराया, और इस प्रकार साहित्य के कलात्मक मूल्य की स्थापना की गई। उक्ति वचित्र्य वक्र-वचन और वदगध्य भणिति का महत्व इस सम्प्रदाय में मान लिया गया और पूरा रूप से कला पक्ष पर ही विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया, क्योंकि वक्र भरणिति भी एक प्रकार का विशिष्ट शब्दाथ ही है। इस प्रकार रस सम्प्रदाय की केवल 'सहृदय गम्य चक्षुष' तक की सीमा का अतिव्रमण कर काव्यकार के व्यक्तिगत कवि कौशल पर भी ध्यान दिया जाने लगा। अभी तक ध्वनिवादियों के अनुसार काव्य सहृदय हृदय की अनुभूतिमात्र रही है कवि-कृति के रूप में उसका विश्लेषण नहीं होता रहा है, कुतल आदि आचार्यों ने इस दिशा में भी प्रयास किया और कवि की कृति के रूप में काव्य की सिद्धि की गई। अभी तक के इन आचार्यों ने काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने में केवल उसके एकांगी रूप का ही ध्यान रखा था। या तो केवल कला पक्ष का समर्थन करते हुए भाव पक्ष की उपेक्षा की गयी थी अथवा काव्य को केवल मात्र सहृदय हृदय की रसानुभूति कहकर कला-पक्ष का तिरस्कार किया गया था। अतः काव्य स्वरूप निर्धारण की जो चेष्टा की गई थी उसमें पूणता का अभाव था। किसी ने रसानुभूति को ही प्राथमिकता दी और किसी ने शब्दाथ युक्त विशिष्ट पद रचना को ही काव्य की आत्मा माना और कवि की कलात्मक रुचि पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया। आचार्य मम्मट ने अपने पूर्ण वर्तनी सभी आलङ्कारिकों का गहन अध्ययन करने के उपरांत इस कमी का अनुभव अवश्य किया था। इसी से उन्होंने अब तक के सभी आचार्यों के अध्ययन एवं चिंतन से लाभ उठाकर उन सभी मतों का समन्वय किया है। काव्य के अभी तक आंशिक विश्लेषण को परखकर उन्होंने सम्पूर्ण मत के सार रूप में अपने ग्रंथ में काव्य की ऐसी परिभाषा दी है जो सभी मतों का समन्वय करने में सक्षम रही है। इसी से मम्मट का यह अर्थात् उनके द्वारा काव्य के स्वरूप का चिंतन वास्तव में काव्य का साद्गोपाय विश्लेषण है।

मम्मट के काव्य लक्षण की विनोयता—आचार्य मम्मट ने अपने काव्य लक्षण में बताया कि वे शब्द और अथ काव्य कह जाते हैं जो दाप रहित हों, गुण युक्त हो और कभी अलङ्कृत हो और कभी नहीं भी हो।<sup>१</sup> इस लक्षण में मम्मट का पर्याप्त चिन्तन और मनन दिखाई पड़ता है। काव्य सामान्य और

१ तदन्वेषी शब्दार्थो सगुणायनत्कृति पुन क्वापि । का० प्र० १/४

विशेष दोनों का समन्वय किया है, इस लक्षण में इन्होंने 'ध्वन्यालोक'<sup>१</sup> एा सरस्वती कण्ठाभरण'<sup>२</sup> दोनों का प्रभाव ग्रहण किया है। साथ ही एक ओर भामह, कुतक और भोज के काव्य का लक्षण और दूसरी ओर दण्डी, वामद और छट्ट की मायताएँ भी दीख पड़ती हैं। वास्तव में इस लक्षण में न तो केवल अलङ्कार, न गुण और न ध्वनि की ही एकाकी महत्ता स्थापित की गई है, अपितु इसमें अलंकार गुण, उक्ति-विचित्र्य, ध्वनि आदि सबका सफल समन्वय किया गया है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यहाँ 'तत्' शब्द का प्रयोग किया गया है, परन्तु इस शब्द पर आलंकारिकों ने आपत्ति उठाई है।

सत् शब्द—सच तो यह है कि इसका प्रयोग केवल छन्द निर्वाह करने के आग्रह से ही नहीं हुआ है अपितु इस 'तत्' शब्द से काव्य का बोध कराया गया है, परन्तु इस शब्द को लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद उठ खड़ा हुआ है। इन लोगों ने बताया है कि सर्वाप्रथम काव्य क लिये जब 'तत्' प्रयोग किया गया है तो यह शब्द काव्य का परामशक हो गया और व्याकरण की दृष्टि से यह एक वचन में प्रयुक्त हुआ है। तदुपरान्त इसी काव्य के विशेषण रूप में अन्वयी और 'गन्वयी का प्रयोग अनुचित रूप में किया गया है क्योंकि इनका प्रयोग दो वचन में है। ऐसा प्रयोग पूर्वपक्षिया की दृष्टि में बड़ी व्यति कर सकता है जिग व्यकरण का जान न हो।

समाधान—इस शब्द के प्रयोग की यह उपयुक्तता है कि आचार्य भम्मट गन्वाय को एक भूत मानते थे। यद्यपि शब्द और अर्थ का भिन्न-भिन्न अस्तित्व है तथा इन दोनों की समष्टि को ही काव्य कहा जायेगा क्योंकि अर्थ विहीन शब्द व्यर्थ होता है और शब्द-रहित अर्थ का भी काव्य की सजा नहीं दी जा सकती है। अतः काव्य के लिए शब्द और अर्थ दोनों की महत्ता सम्मिलित रूप में होने के कारण ही ग्यासन वृत्ति से इन दोनों को सम्बद्ध मानकर ही 'तत्' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके अनुसार शब्द और अर्थ दोनों दो होते हुए भी उनका एक ही माना गया है, तभी तो महाकवि कालिदास ने भी इसका समर्थन किया है।<sup>३</sup> और शब्द एव अर्थ की एक रूपता को मान लिया है। माणिक्यचन्द्र ने भी अपनी संकेत टीका में कहा है

१ ध्वन्यालोक १/१३

२ सरस्वती कण्ठाभरण १/२

३ वागर्थाविध सम्पृत्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।



कि जैसे दृश्य रूप में जाति एवं व्यक्ति दोनों भिन्न प्रतीत होते हुए भी दोनों एक ही रहते हैं और एक के अभाव में दूसरे की स्थिति सम्भव नहीं है उसी प्रकार शब्द और अर्थ दोनों ही का यादृक् के रूप में एक भूत है। ऐसी स्थिति में शब्द और अर्थ के उस एकीभूत तत्त्व के लिए 'तत्' शब्द का एक वचन, प्रयोग अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि मम्मट जसा विद्वान और दाशनिक् इस प्रकार की भूल कभी नहीं कर सकता है। इस शब्द के प्रयोग द्वारा मम्मट ने इस रूप तत्त्व के शब्दाध्ययन स्वरूप पर ध्यान दिया है यही पर उनको दाशनिक् दृष्टि भी चरिताय होती दिखाई पड़ती है और उसका स्पष्टीकरण इस 'तत्' शब्द के द्वारा किया गया।

(3) आचार्य मरम्मट शिवाद्भवानी थे और उनका यह अद्वैत शक राचाय के अद्वैत से भिन्नता रखता है। वाश्मीरी होने के कारण शक दशन का प्रभाव पडना स्वाभाविक ही था। शिवाद्भवान् एक शुद्ध सत्ता व तत्वाद में विश्वास रखता है। इस स्पष्ट करने के लिए चने का उपाहरण देता है। जिस प्रकार चने में पृथक्-पृथक् दो दालों की सत्ता होने हुए भी तात्विक रूप में वे दोनों एक ही हैं अर्थात् परात्पर तिव असण्ड और अद्वितीय है। इसी शिव तत्त्व में शक्ति तत्त्व निहित रहता है। मम्मट भी इसी शिवाद्भवान् से प्रभावित थे। अतः उन्होंने एक ही शब्द द्वारा इसे ध्यवत किया है तथा 'तत्' शब्द का साथ अदोषी शब्दाथी और सगुणों के प्रयोग का यही मुख्य कारण भी प्रतीत होता है। अतः, उनका यह प्रयोग वाश्मीरी शिवाद्भवान् से प्रभावित होने से उचित है और उसमें विश्वनाथ द्वारा कल्पित दोषों का निराकरण हो जाता है।

अदोषी पद का प्रयोग— 'ज्योषी' पद के प्रयोग को भी लेकर आचार्य विश्वनाथ ने इसका खण्डन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथ मम्मट के काव्य लक्षण के प्रत्येक शब्द का खण्डन करने पर तुरन्त हुए थे। उन्हें शायद यह नहीं मालूम था कि काव्य के स्वरूप का बताने हुए सभी आचार्यों ने—अग्निपुराण<sup>१</sup> वामन<sup>२</sup> हमचन्द्र,<sup>३</sup> विद्यानाथ<sup>४</sup> तृतीय वाग्भट्ट,<sup>५</sup> जय

१ सधेपाद्वाक्य मिष्टार्थं ध्यवच्छिन्नापदावली ।

काव्य स्फुरन्लभार गुणवद दोषवर्जितम् । अग्निपुराण

२ काव्य ब्राह्म अलकारत । सौन्दर्यमलकार । स गुण दोषालकार  
हानापादानाम्याम । वामन

३ अदोषी सगुणो सालकारी च शब्दाथी काव्यम् । हमचन्द्र

४ गुणात्कार सहितो शब्दाथी दोषवर्जितम् । विद्यानाथ

५ शब्दाथी निर्दोषी सगुणी प्रायः मात्कारा काव्यम् । द्वि वाग्भट्ट

देव,<sup>१</sup> आदि ने उसके निर्दोषता की बात कही है, और काव्य का निर्दोष होना उसके लक्षणों में प्रमुख माना गया है। फिर भी इस पद को लेकर आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दपण में मम्मटवृत्त काव्य लक्षण की छीछालेदर पर्यों की है, यह समझ में नहीं आता है।

विश्वनाथ का मत—आचार्य विश्वनाथ ने इस स्थान पर प्रयुक्त 'अदोषी' पद का दो अर्थ ग्रहण किया है।

(१) काव्य में दोष बिल्कुल ही न हो।

(२) उसमें दोष अधिक न हों।

इन दोनों अर्थों में से किसी भी एक को ग्रहण करने पर मम्मट की परिभाषा अपूर्ण और दोषयुक्त हो जाती है। यदि इसका प्रथम अर्थ लिया जाय तो ध्वन्यालोक में सत्काव्य के उदाहरण में दिये गये श्लोक<sup>२</sup> के द्वारा अपने आप उसका खण्डन हो जाता है। इस श्लोक में 'विधेयाविमश' दोष के रहते हुए भी इसे सत्काव्य कहा गया है। अतः 'काव्य' संज्ञा प्राप्त करने के लिए प्रथम अर्थ में इसकी निर्दोषता नहीं मानी जा सकती है, अब अदोष पद का दूसरा अर्थ शेष रह जाता है। यदि इस अर्थ को ग्रहण कर कि काव्य में दोष मान्य है परन्तु उनकी संख्या अधिक न हो—तो दो समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं।

(१) प्रथम यह है कि दोषों की सीमा क्या हो अर्थात् कितनी संख्या तक क दोष काव्य में सत्काव्य हैं। और द्वितीय प्रश्न यह उठता है कि यदि काव्य में दोष की स्थिति मानी ही जाय—चाह वह कम हों या अधिक तो पुनः इस पद 'अदोषी' के प्रयोग का कोई महत्व ही नहीं रह जाता है। जानबूझकर तो कय में कोई भी कवि अधिक दोष लाने की चेष्टा नहीं करता है।

समाधान—इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि या तो आचार्य विश्वनाथ मम्मट के 'अदोषी' पद का भाव ग्रहण नहीं कर सके

१ निर्दोषा लक्ष्मवती सरीति गुणभूयिता ।

सालकार रसानेक वृत्तिवाक कायनाभाक ॥ जयदेव ।

२ यवकारो ह्ययमेव हि यदरयस्तत्राप्यसौ तापस ।

सौग्यत्रय निर्हति राक्षसकूल जीवत्यहो रावण ।

धिकपिके ह्यत्रजित प्रबाधितवता किं कु भकरेण वा ।

स्वग प्रामटिका विसृणुतन वृषोच्चून किमभिमु ज ॥ ध्वन्यालोक

हैं अथवा जानबूझकर उ होने मम्मट का खण्डन करना चाहा है। इन दोनों में उनका जो भी विचार रहा हो, परन्तु मम्मट के विचार से दाप का अर्थ 'उद्देश्य प्रतीत प्रतिबन्ध' रूप ही माना गया है। उन्होंने बताया है कि मुख्याय और रस में बाधा पहुँचाने वाले को ही दोष कहा जाता है।<sup>१</sup> तात्पर्य यह हुआ कि जिससे रस की प्रतीति में व्याघात उत्पन्न होता है, उसी को दोष कहा जाता है। और इसी बात को आचार्य विश्वनाथ ने भी स्वीकार किया है अतः आचार्य विश्वनाथ की इस आलोचना में कोई मार नहीं प्रतीत होता है। और मम्मट का एक मात्र उद्देश्य रस में व्याघात उत्पन्न करने वाले 'दोषों' में ही रहा है। यदि इसके अतिरिक्त 'अदापी' पद का यह अर्थ लिया जाय कि उसमें दोष बिल्कुल ही न हों तो ऐसी वस्तु तो सम्पूर्ण समारम्भ प्रायः ही प्राप्त हो सके। यदि काव्य में दोषों का पूर्ण अभाव हो तो वह तो उत्तम काव्य होगा ही साथ ही यदि काव्य में कुछ दोष ही भी परन्तु वे दोष काव्य के सौन्दर्य का नाश न करते हों, तो ऐसी दशा में भी उसे काव्य ही ही माना जायगी, अस्वास्थ्य की नहीं। अतः काव्य में दोष होने का अभिप्राय पूर्ण रूप से दापों का अभाव न होकर केवल ऐसे दोषों के अभाव से है जो काव्य में विघातक होते हैं और जिनसे रस प्रतीति में बाधा उत्पन्न हो जाती है। मम्मट के 'अदोष' पद का यही भाव है। अतः आचार्य विश्वनाथ की आलोचना में कोई सार नहीं दिखाई पड़ता है।

१ शब्दाद्यौ शब्द का प्रयोग—तत् शब्द की याख्या में शब्दाद्यौ पद का समर्थन किया जा चुका है। इस पद का प्रयोग का सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ के स्थान पर आचार्य जगन्नाथ ने—जिनका अनुसार रमणीयाय प्रतिपादक शब्द काव्यम<sup>१</sup> है—आपत्ति उठाई है। विश्वनाथ की आपत्ति केवल विशेषण भाग पर ही रही है परन्तु जगन्नाथ ने इस लक्षण में विशेष्य भाग 'रमणीयाय' पर अपनी असहमति प्रकट की है।

२ आचार्य जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को ही काव्य माना है।<sup>२</sup> इस प्रकार शब्द की महत्ता अर्थ की अपेक्षा अधिक मानी गयी है, यद्यपि यह शब्द रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला ही होता है। इस प्रकार अर्थ की सत्ता मानते हुए भी शब्द का ही प्रमुख स्थान रहा है।

१ मुख्यायति दाप रसद्वयमुख्य । का० प्र०

२ रमणीयाय प्रतिपादक शब्द काव्यम । (रस-नाङ्गाधर)

आचार्य जगन्नाथ का मत—अलंकारवादी सभी आचार्यों ने काव्य को केवल शब्दगत ही माना है और रसवादी आचार्यों ने इसे उभयगत माना है। आचार्य मम्मट रसवादी थे अतः इन्होंने शब्द और अर्थ दोनों में व्यापक वृत्ति से काव्य माना है। आचार्य जगन्नाथ इस विचार से भिन्नता रखते हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में बताया है कि —

(१) व्यवहार में ऐसा सुना जाता है कि कविता पद्य, परन्तु समझ में नहीं आती। इससे स्पष्ट है कि कविता और अर्थ में भिन्नता है। ऐसी दशा में उसे शब्द और अर्थगत मानना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि जब कविता अर्थ से भिन्न है, तो इसे अर्थगत तो कहा ही नहीं जा सकता है। कविता केवल शब्दगत ही हो सकती है।

(२) रस निष्पत्ति की शक्ति शब्द और अर्थ दोनों में होती है, उत्तम काव्य का लक्षण यही है कि उसमें रसात्प्रादन हो। अतः काव्य का उभयगत मानना ही उचित है। आचार्य जगन्नाथ का इस सम्बन्ध में यह विचार है कि ऐसी अवस्था में संगीत लहरी भी जो रसमयी होती है काव्य की परिधि में आ जायेगी, परन्तु उसे काव्य की सना नहीं दी जाती है, क्योंकि संगीत का प्रभाव अत्यधिक रूप में श्रवणीय तब हो रहता है हृदय तब उसकी पूरा पहुँच नहीं हो पाती है।

पण्डितराज के इस मत का लक्षण रसगङ्गाधर के टीकाकार नागेन्द्र ने किया है।

नागेन्द्र का मत—इन्होंने बताया है कि लोक व्यवहार में यह कहा जा सकता है कि काव्य पढ़ा जाता है परन्तु इस पढ़े हुए काव्य में समझने का तत्त्व अर्थ ही होता है। अर्थात् शब्द को पढ़कर उसके अर्थ का हृदयङ्गम होना ही रसोत्पत्ति का साधन है। अतः जब समझने की वस्तु अर्थ ही है तो काव्य निश्चित रूप से उभयगत ही होगा केवल शब्दगत नहीं जसा आचार्य जगन्नाथ मानते हैं।

महावैयाकरण पाणिनी ने अपने एक सूत्र में कहा है कि द्वितीयान्त से—उसे पढ़ता है या 'उसे जानता है—इस अर्थ में अणु प्रत्यक्ष होता है।' इस सूत्र के अनुसार पढ़ना शब्दों का और जानना अर्थों का होता है। इस प्रकार उस सूत्र से भी ध्यवत है कि शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य कहे जाते हैं अर्थात् काव्य उभयगत होता है केवल शब्दगत नहीं होता है।

पण्डितराज द्वारा विद्यमान उपसृष्टि का सङ्घन मम्मट के अनुयायियों ने किया है। इनके अनुसार काव्य का प्राण चमत्कार है। इस चमत्कार की उत्पत्ति अलंकार और रग दोनों से ही सम्भव है। यह चमत्कार व्यञ्जना का आधार लेकर रग रगा तक पहुँचता है। व्यञ्जना मूलर रग म रग और अय दोनों का सहकारित माना जाता है। इसी के साथी और आर्यों नाम से व्यञ्जना मूलर रगि के दो भेद विद्यमान हैं। इसमें भी स्पष्ट होता है कि काव्य उभयगत होता है।

सगुणों का प्रयोग—इस पद के प्रयोग में भी आचार्य विश्वनाथ ने आपत्ति उठाई है। उक्त अनुगाय सगुणों पद उचित नहीं है। इसका स्थान पर 'सरसो' पद ही उपयुक्त कहा जायगा। कारण यह है कि मम्मट रस की ही पायाङ्ग मानते थे। अतः अग का उक्ते न करने अर्थात् ही उन्हें उल्लेख करना चाहिए और यही उक्त लिए उचित भी था। ऐसी दशा में जब गुण को रस का अंग मान लिया जाता है तो वही गुण भला रस के अंग बस ही सकते हैं।

समाधान—इस मत का सङ्घन प्रदीपकार नागोजी भट्ट के द्वारा किया गया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि—

(१) गुणा का प्रयोग मम्मट ने गुण व्यञ्जक का अर्थ के लिये ही किया है।<sup>१</sup>

(२) सगुणों का प्रयोग द्वारा सीमा प्रकार के अर्थो-वाच्य लक्ष्य और व्यङ्ग्य का ग्रहण होता है और रस व्यङ्ग्याय के ही अंतर्गत आता है। असंख्य प्रथम व्यङ्ग्य रसादि ध्वनि को ही कहते हैं। अतः यदि सगुणों के स्थान पर 'सरसो' का प्रयोग कर दिया जाता तो काव्य की परिभाषा सीमित हो जाती और उसका वह अर्थ निकलता जो मम्मट चाहते थे। इसलिए यहाँ पर 'सगुणों का प्रयोग साधक और साभिप्राय माना जायगा।

काव्य में सगुणों का प्रयोग करने वाले अनेक आचार्यों में अग्निपुराण धामन हेमचन्द्र, द्वितीय वाग्भट्ट और जयदेव आदि का नाम लिया जा सकता है, जिनका उद्धरण पिछले पृष्ठ पर दिया गया है।

१ (१) का प्रमाण के वेदोऽर्थो व्यनवतययोऽंतर मते ।

अधरय यञ्जवत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता । का प्र ३/२३

(ii) अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारिता मता । का प्र २/२०

२ गुणस्य रस निष्पत्तव्ये वि सद्यञ्जक परमगुणपदम नागोजी भट्ट

(३) आचार्य मम्मट न माधुय, ओज और प्रसाद गुणा का रसनिष्ठ माना है। ये शब्द और अर्थ के गुण नहीं माने जा सकते हैं। गुण जा निस्सन्नेह रस के अंग है परन्तु उस रस का नाम शब्द और अर्थ के ही सहारे सम्भव होता है। अतः परम्परा सम्बन्ध से गुण को शब्द और अर्थ का भी विशेषण माना जा सकता है। सगुणों का भाव यहाँ गुणाभि-पञ्चक शब्द और अर्थ से है। मम्मट न भी आगे चलकर कहा है कि गुणों का शब्द और अर्थ गत होना उपचारत सिद्ध हैं, मुख्यतः नहीं।<sup>१</sup>

(४) आचार्य वामन का अर्थ गुण से शब्द और अर्थ के धर्म का बोध कराना था परन्तु मम्मट न इसे रस का धर्म माना है। शब्द और अर्थ की सगुणता इनो रूप में माना जा सकती है कि वे रसाभिपञ्जन होते हैं और ये गुण ही रस के धर्म रूप में अभिव्यक्त हुआ करते हैं।

(५) सगुणता के द्वारा रसादिरूप उत्तम का धर्म के अतिरिक्त मध्यम और अधम का भी नाम इससे ही जाता है। उत्तम काव्य में रसाभिपञ्चक सामर्थ्य ही सगुणता से व्यक्त होती है परन्तु मध्यम और अधम काव्य में श्लेष साहित्य की यह सगुणता औपचारिक ही है, क्यानि वर्णों की कठोरता अथवा कोमलता आदि से ही आज अधम माधुय गुणा की मृष्टि होनी है। इस प्रकार मम्मट न इस विशेषण द्वारा ध्वनिवाद में माय काय की परिभाषा का ही व्यक्त किया है। इस प्रकार यनिवाद और रातिवाद का सफल समन्वय का प्रयास मम्मट ने किया है और उनकी परिभाषा पुण रूप से उचित कही जायगी।

अनलकृति पुन क्वापि — आचार्य मम्मट न इस वाक्यांश के द्वारा स्पष्ट रीति से अपनी ध्वनिवादिता का परिचय दिया है। यदि वे केवल अलकार की ही चर्चा करते तो वामनादि आचार्यों की काटि में आ जाते। इसी से कहने ऐसा कहा है कि ऐसी शब्द और अधमयी रचनाएँ भी काव्य के अन्तर्गत आती हैं जिनमें स्पष्ट रूप से कोई अलकार योजना न होने हुए भी काव्य सौन्दर्य का अनुभव होता है।<sup>२</sup>

आचार्य विश्वनाथ ने 'ग्ल्यायी' के इस विशेषण भाग पर भी आर्षात्त उठाई है और कहा है कि अलकृत शब्द और अर्थ काव्य के स्वरूप में नहीं,

१ गुणद्वया पुवस्तेषा वृत्ति ग्ल्यायोमता'। का० प्र० ७/७१

२ क्वचित्तु स्फुटलकार विरह्यपि न कायत्वं हाति। का प्र १

अपितु काव्य के उत्कृष्ट में आवश्यक है। जयदेव ने तो यहाँ तक कहा है कि जो अलंकार सूत्र शब्दाद्य का स्वीकार करता है, वह उष्णता रहित अग्नि को क्यों नहीं मानता।<sup>१</sup> जयदेव व इस मत का खण्डन वृत्ति भाग में ही कर दिया गया है। उसमें स्पष्ट रूप से लिखा है कि अनलवृत्ति से तात्पर्य अस्पृष्ट अलंकारों से है—अलंकारों की विहीनता से नहीं है।

नागोजी भट्ट ने जयदेव का खण्डन करते हुए कहा है कि जो लोग इस वृत्ति भाग का केवल वाच्य ही ग्रहण करते हैं, उनके अनुसार अनलवृत्ति का तात्पर्य स्पृष्ट अलंकारों का अभाव से है अलंकार वादियों का यह कहना है कि रस के अभाव में भी स्पृष्ट अलंकार रहने पर रचना को काव्य सज्ञा ही दी जायगी, परंतु ध्वनिवादियों के अनुसार केवल अलंकारों की उपस्थिति काव्य कहे जाने के लिए पर्याप्त नहीं है जब तक कि उसमें कोई रस विशेष न हो। रस गगाधर म जग नग ने भी रस को ही काव्य का चमत्कार विधायक तत्व माना है, अलंकार से भी एक बचिय उत्पन्न होता है, परंतु रस का चमत्कार केवल अलंकार जय चमत्कार से अत्यधिक उच्चकाटि का माना जाता है, क्योंकि रस का प्रभाव और क्षेत्र दोनों ही अपेक्षाकृत व्यापक होता है। अतः अलंकारगत चमत्कार के अभाव में भी केवल रसगत चमत्कार से ही काव्य की सज्ञा किसी रचना का प्राप्ति हो सकती है। ध्वनिवार आनंदवधन ने भी इसका समर्थन किया है कि अलंकार से रहित रस गुण युक्त रचना भी काव्य कही जा सकती है। अर्थात् रस सम्पन्न काव्य स्वयं ही आनंद प्रद होता है अतः उसमें अलंकारों की स्थिति आवश्यक नहीं है।<sup>२</sup>

प्रदीपकार नागोजीभट्ट का भी यही मत है कि अस्पृष्ट अलंकार से युक्त रचना भी किसी परिस्थिति में अर्थात् रस की स्थिति काल में काव्य कही जा सकती है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविकता अलंकारों में न होकर केवल रस तत्व में ही है। यदि रस के संग अलंकारों का भी चमत्कार हो तब तो और भी अच्छा माना जायगा। इसी आधार पर वामनाथाय भल्लुकीकर ने अपनी 'बाल बोधिनी' टीका में यह निष्कर्ष निकाला है कि काव्य से सम्बन्धित छ अवस्थाएँ होती हैं—

१ अगीकरोति य काव्य शब्दार्थावनलवृत्ति ।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलवृत्ति । जयदेव

२ अतएव रसानुगुणाय विशय निबन्धनमलंकार विरहेऽपि द्वायातिगम्य  
पुष्पाति । ध्वनिवार ।

1. (१) सरस स्फुटालकार सहितम् (२) सरसमस्फुटालकार सहितम् ।  
 (३) सरसमलकार शून्यम् (४) नीरस स्फुटालकार सहितम् ।  
 (५) नीरसमस्फुटालकार सहितम् (६) नीरसमलकार शून्यम् ।

मम्मट के अनुसार प्रथम चार अवस्थाय ही काव्य के अतगत आ सकती हैं और अन्य दो नहीं ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मम्मट ने जो शब्द और अर्थ को यथा स्थान अथवा यथासम्भव अलङ्कृत होने का सिद्धांत माना है वह रस रूप अलङ्कार की भाव्यता से सम्बद्ध है । अङ्कारो स चारुत्व वा उत्कृष्ट होता है, परन्तु यह उत्कृष्ट रस रूप अलङ्कार का ही होता है । इसी से मम्मट ने अलङ्कृति पुनः षष्ठी' कहा है । शब्दों एवं अर्थों के लिए जिस समुचित अलङ्कृतता की बात कही गई है वह उसने स्वरूप में सम्बन्धित नहीं है, अपितु उसका सम्बन्ध रस रूप अलङ्कार से ही है । अर्थात् अलङ्कार दा द और अर्थ क चारुत्व विधायक न होकर रस भावादिरूप अलङ्कार के ही चारुत्ववधक हैं । अतः सम्पूर्ण रूप में मम्मट के इस काव्य लक्षण में उनके ध्वनि सिद्धांत का सार है और उन्हीं पूर्व वर्ती सभी आचार्यों के चिन्तन का लाभ उठाया है ।

1. मम्मट द्वारा दिया गया उदाहरण — मम्मट द्वारा दिये गये अस्फुटालकार 'युक्त उदाहरण' के सम्बन्ध में भी विश्वनाथ 1 आपत्ति की है । इस उदाहरण में एक प्रणय प्रताडिता स्त्री की अपनी सखी के प्रति उक्ति है जिसमें उसने अपने पूर्व परिचित प्रियतम के प्रति अनुराग भाव को व्यक्त किया है । साहित्य चूडामणि टीका के अनुसार वह स्त्री अपने वर्तमान पति से विवाह के पूर्व ही अभिसरण कर चुकी थी, परन्तु डा० गगानाथ भा और डा० हरदत्त शर्मा ने इसे भारतीय सभ्यता के विपरीत बताते हुये इस अर्थ का समर्थन नहीं किया है ।

इस उदाहरण में कुछ दीकारारो ने अस्फुट उपमा और रूपक माना है कुछ ने 'इव' शब्द के अभाव में दोनों अलङ्कारों की स्थिति का समर्थन नहीं किया है । कुछ 'अस्मि' शब्द को कई वाक्यांशों के साथ जोड़कर दीपक अलङ्कार मानते हैं परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि अस्मि का प्रयोग यहाँ त्रिया के रूप में न होकर 'अत्रय' के रूप में हुआ है । यदि इसका प्रयोग त्रिया

- 11 य बीमारहर स एव हि वरस्ता एव चन्द्रक्षया,  
 स्ते चोष्मीलित मालती सुरभय प्रीडा वदम्यानिता ।  
 सा चवाऽस्मि तथापि तत्र सुरतध्यापार लीलाविधौ  
 रेवा रोधसि वेतसीतरुतले चेतस्यमुत्कण्ठते ॥



के रूप में माने तो भी यहाँ 'दीपक' अलंकार नहीं है। सचता है, क्योंकि 'दीपक' में कुछ पदाथ प्रवृत्त और कुछ अप्रवृत्त पदाथ होते हैं। साथ ही 'दीपक' में दो या अधिक वस्तुओं का समानता भी व्यक्त रहती है। तुल्य योगिता भी नहीं मानी जा सकती है। एक ही वाक्य के बहुत से कारणों के न होने से यहाँ समुच्चय भी नहीं हो सकता है। डा० हरदत्त शर्मा ने यहाँ विभावना और विशेषाति नामक अस्फुट अलंकारों की स्थिति मानी है। अस्फुट अलंकार में रस की चमत्कार मूलक स्थिति रहने के कारण ही मम्मट ने इसे उदाहरण के रूप में उपस्थित किया है। इसमें एक प्रेमिका के मन स्थिति का ऐसा चित्रण किया गया है, जो रसपूर्ण है और रसानुभूति में कोई कमी नहीं आने देता।

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य-रूपण' में इस श्लोक को दोषपूर्ण माना है और कहा है कि यद्यपि इसमें विभावना और विशेषाति अस्फुट रूप में है फिर भी इन दोनों के संयोग से सदेह शंकर अलंकार स्फुट रूप में दिखाई पड़ता है, अतः अनलक्षित के रूप में इस उदाहरण को प्रस्तुत करना अनुचित है। दूसरे लोगो ने इसमें रसवद् अलंकार माना है, किन्तु इसमें स्पष्ट रूप से विप्रलम्भ शृंगार होने के कारण रसवद् अलंकार भी नहीं माना जा सकता है।

आचार्य विश्वनाथ ने 'अनलक्षितों' शब्द की भी आलोचना की है। उनके अनुसार इस पद का प्रयोग द्वारा मम्मट ने वाक्य में अलंकारों की स्थिति को आवश्यक माना है। कारण यह है कि अस्फुट अलंकार से युक्त रचना को तो सत्वाव्य माना ही गया है और चमत्कार विधायक होने के कारण स्फुट अलंकार से युक्त रचना तो और भी अधिक सत्वाव्य की श्रेणी में आ जायगी। निष्णय यह निकला कि ऐसी रचना में अलंकार वाक्य का आवश्यक तत्व हो जाता है। साथ ही सामान्य पुरुष का सग आभूषण की सगति की भाँति वाङ्मय पुरुष से अलंकारों की सगति को भी विश्वनाथ ने आवश्यक माना है। इस प्रकार दो विरोधी उक्तियाँ के कारण परस्पर दोनों में असगति और विरोध उपस्थित हो जाता है। इस तक का उत्तर देते हुए टीकाकारों ने कहा है कि "मम्मट गुण और अलंकार दोनों को रस का उत्कल्पक मानते थे। अतः केवल इतना है कि गुण उसके साक्षात् उत्कल्पक होते हैं और अलंकार असाक्षात् इसका अर्थ यह हुआ कि अलंकारों की रस के साथ अचल स्थिति नहीं होती। रस वाला वाक्य में अलंकार कभी तो रस के साथ रहकर रस का उत्कल्प करता है और कभी रस का उत्कल्प नहीं भी करता। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि रसहीन वाक्य सदा वाक्य कहलायेगा।

वास्तविकता तो यह है कि "मम्मट की अलंकार दृष्टि में ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट अलंकार स्वरूप भ्रंश रहा है। इसीलिए 'यथासंभव विवा यथास्थान अलंकृतता' की विशेषता ही शब्दाय साहित्य की सालङ्कारिता' के रहस्य के रूप में प्रकट हो रही है।" यद्यपि इस उदाहरण में कवि ने अलंकार की स्फुट योजना नहीं की है तथा मम्मट ने भी इसी रूप में इसे प्रस्तुत किया है, फिर भी यदि आलोचक गण इसमें विभिन्न अलंकारों को देखने की चेष्टा करते हैं तो भी इसमें कोई महत्व नहीं रहता, क्योंकि इसमें कवि की किसी भी प्रकार अलंकारों के व्यक्त करने की भावना नहीं थी, वह तो रसानुभूति की एक मानसिक स्थिति को ही उपस्थित करना चाहता था और उसमें वह पूर्ण रूप से सफल भी हुआ है। अतः जिन प्राचीन आलंकारिकों ने इस उदाहरण को अलंकारों की परिधि में रखने का निरर्थक प्रयास किया है उसे केवल उतको हठवादिता ही कही जायेगी। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि यह पद्य रस दृष्टि में सफल उत्तरा है यही कवि की आकांक्षा भी थी। अतः अलंकारों की चिन्ता की कोई बात ही नहीं उठती है। मम्मट ने 'अनलंकृती पुनर्वापि'। निखर प्राचीन काव्य तत्त्वों की मायताओं को व्यावहारिक रूप दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि काव्य की सृष्टि सहृदय की दृष्टि में रसानुभूति के लिये ही होती है, तथापि विश्वनाथ के काव्य स्वरूप 'वाक्य रसात्मक काव्य' को ही सब कुछ नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इसकी सीमा केवल सहृदय की दृष्टि तक ही रहने के कारण संकुचित हो जाती है। अतः हम निस्संकोच कह सकते हैं कि मम्मट द्वारा दी गई इस परिभाषा में मम्मट की दृष्टि सदा काव्य में रस दृष्टि और रसानुभूति पर ही केन्द्रित रही है, जो उनके द्वारा माय मत की परिचयिका एवं ध्वनि सम्प्रदाय की समर्थिका है।

## काव्य के भेद

आचार्य मम्मट ने मुख्य रूप से काव्य को तीन भेदों में विभाजित किया है। उनका यह वर्गीकरण ध्वनिवाद के अनुसार है।

- (१) उत्तम अथवा ध्वनि काव्य।
- (२) मध्यम अथवा गुणोन्मूत व्यंग्यवाच्य।
- (३) अथवा अथवा चित्रकाव्य।

उत्तम अथवा ध्वनि काव्य के स्वरूप का निर्धारण करते हुए मम्मट ने कहा है कि यह काव्य जिसमें वाच्याय की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कार युक्त हो, उसे काव्य तत्त्व दर्शाते लोगो ने ध्वनि काव्य कहा है। 'इदम् पद की व्याख्या के लिये इस सूत्र में दिये गये विभिन्न शब्दों पर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है। सर्वप्रथम 'इदम्' शब्द विद्वानों के विभिन्न विचारों का आधार बना हुआ है। 'इदम्' पद काव्य का परमगणक है और काव्य शब्द नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होता है। इसी आधार पर लोगों की यह धारणा है कि यह पद कभी 'ब्रह्मस्व' का वाचक रहा होगा "अविभनीपी परिभू" स्वयम्भू में कवि शब्द परमद्वय के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा और इसी कवि शब्द से काव्य का निर्माण प्रतीत होता है। अतः यह पद ब्रह्मस्व का वाचक हो सकता है और ब्रह्म शब्द नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होता रहा है। इस प्रकार का तर्क देना कुछ अधिःसमीचीन प्रतीत नहीं होता है। इसे बेबल वितर्क मात्र कहकर मीन हो जाना ही अधिक उपयुक्त है।

उत्तम शब्द से मम्मट का अभिप्राय श्रेष्ठ काव्य से रहा है। इसी श्रेष्ठ काव्य को ध्वनि काव्य कहा गया है। आगे चलकर पुनः कहा गया है कि "वाच्यात् व्यङ्ग्ये अतिगामिनि" अर्थात् इस प्रकार के काव्य में वाच्याय की अपेक्षा व्यंग्याय अधिक चमत्कार जनक होता है। शब्द की तीन शक्तियों में से व्यञ्जना का ही सम्बन्ध इस उत्तम काव्य से रहता है। यह व्यञ्जना शक्ति अभिधा अथवा लक्षणा की अपेक्षा प्रधान होती है। इसी से इस शक्ति द्वारा गम्य व्यंग्याय रूप काव्य को ही उत्तम काव्य अथवा 'ध्वनि-काव्य' कहा जाता

है। ध्वनिकार ने भी इसका समर्थन किया है कि "जहाँ शब्द और अर्थ अपने अभिप्राय अथवा स्वल्प को गीण करके उभ वाच्य को व्यञ्जित करते हैं, उसे ध्वनि वाच्य कहा जाता है।"<sup>1</sup>

— आचार्य मम्मट ने भी अपने वृत्ति भाग में ध्वनि का स्पष्टीकरण किया है इसमें वयाकरणों के स्फोटवाद की बात अधिक बल के साथ कही गई है। उन्होंने उपयुक्त सूत्र का इस रूप में स्पष्टीकरण किया है कि "यहाँ पर 'इत्' का अभिप्राय वच्य से है और 'ध्वनि' का अभिप्राय उस शब्द अथवा वण ममुत्पाय से है जो वयाकरणों के प्रधानभूत स्फोट रूप व्यञ्जय का व्यञ्जक होता है। इसी मत का अनुसरण करने वाले—आचार्यिकों ने—इसे ध्वनिनाम दिया है जिसमें वाच्यार्थ देवा रहता है और इसमें शब्दार्थ युक्त व्यञ्जय को ध्वनित करने में समय होता है।"<sup>2</sup> इस वृत्ति भाग में मम्मट ने 'स्फोट' शब्द का प्रयोग किया है। पारिभाषिक होने से इसका स्पष्टीकरण कर देना अनिवार्य है।

स्फोट—रूप ब्रह्म का स्पष्टीकरण लगभग सभी विद्वानों ने किया है, विशेषतः नैयायिक मीमांसक और वयाकरणों की दृष्टि इसमें अधिक रही है इतना तो सभी मानते हैं कि शब्दों से अर्थ का ज्ञान होता है, परन्तु इस वाचकता का अधिष्ठान वण है इस सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों में मतभेद है।

### वाचकता का अधिष्ठान

नैयायिकों का मत—संस्कार वादी इन नैयायिकों ने बताया है कि अन्तिम ध्वनि की अनुभूति को शब्दों की अनुभूति से उत्पन्न संस्कार के साथ अर्थ प्रकट करती है अर्थात् प्रत्येक शब्द के उच्चारण के साथ ही उन शब्दों की अनुभूति से हृदय पर एक संस्कार बन जाता है। जब हम किसी वाच्य के अन्तिम शब्द का उच्चारण करते हैं, तो उसके द्वारा निमित्त संस्कार के साथ पूर्व संस्कारों के समावय से उस वाच्य का पूर्ण अर्थ बाध हो जाता है। नैयायिकों ने वण को अनित्य माना है। अतः वे आत्मा विनाशी हात है। उच्चारण करने के साथ

१ यथाय शब्दो व तदर्थमुपसजनीकृतस्वाथो ।

व्यक्त वाच्यप्रतिषेध सध्वनिरिति मूरिभि कथित । ध्वन्यालोक १/१३

२ इदमिति वाच्य बुधव्यविरण प्रधानभूतस्फोट रूपव्यञ्जय व्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारकृत । ततस्तन्मतानुसारिभिरपरि यग्भाविता वाच्य व्यञ्जय ध्वन्याश्रयण्य शब्दार्थ युक्तस्य ॥ का प्र उ १ वृत्तिभाग ।

ही उन ध्वनियों का नाश हो जाता है ऐसी दशा में उन ध्वनियों से अथ का बोध कराने के लिए इन लोगों के लिए आवश्यक हो गया था कि एक ऐसे साधन की कल्पना करते, जिससे अथ बोध सम्भव होता। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन लोगों को 'सस्कार' की कल्पना करनी पड़ी। वण तो अनित्य और आगु विनाशी होते हैं। अतः उच्चरित होने के साथ ही समाप्त हो जाते हैं और उच्चरित होने पर केवल ध्वनि ही सस्कार रूप में शेष रह जाती है। इनमें अन्तिम सस्कार पूर्व सस्कार से सम्बद्ध होकर ही विशेष अथ का प्रतिपादन कर पाता है।

वयाकरणों का मत—वैयाकरणों ने नैयायिकों के इस मत का दोष पूरा माना है, इन दोनों की मूल भाष्यताओं में ही अंतर है। नैयायिकों ने जहाँ वण को भाषा की इकाई माना है वहाँ वयाकरणों के अनुसार वाक्य ही भाषा की इकाई है। वणों का सम्कार घूमिल रहता है। अतः उससे पूरा रूप से अथ का ज्ञान नहीं हो पाता है, अपितु वाक्य की आकाशा, योग्यता और सन्निधि के ऐक्य विधान से ही अथ ज्ञान सम्भव है। वयाकरणों के सिद्धांत को ही 'स्फोटवाद' का नाम दिया गया है।

'स्फुटति अथ यस्मात् स स्फोट' अर्थात् जिससे अथ का स्फुरण हो उसे स्फोट कहा जाता है। इसके आठ भेद किये गये हैं। इनमें 'पद स्फोट' पन्थाय का और 'वाक्यस्फोट' वाक्याथ का बोधक होता है। किसी पद से जिस अथ का बाध होता है उसका कारण ध्वनि द्वारा व्यवहृत मानस स्फोट ही है। सुनाई पड़ने वाली ध्वनियां नाशवान् और क्षणिक होने से नष्ट हो जाती हैं। ऐसी दशा में वाक्यों में प्रयुक्त विभिन्न ध्वनियों में अथ-बोध के लिए स्फोटवाद का आधार ग्रहण करने कहा गया है कि 'पूर्व-पूर्व ध्वनियों के श्रवणजन्य अनुभव से एक मानसिक सस्कार उत्पन्न होता है। इसी सस्कार से युक्त होकर अन्तिम ध्वनियों के सस्कार एक मानसिक पद की प्रतीति कराते हैं। यही पद प्रतीति पद स्फोट कहा जाता है जिससे अथ का ज्ञान होता है। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व-पदानुभव जनित सस्कार सहवृत्त अर्थ पद श्रवण से सद्मद् अन्वय—पदावगाहिनी मानसी वाक्य प्रतीति होती है।'

मीमांसकों की अथ-बोध कराने वाली प्रक्रिया नैयायिकों जैसी ही है। इनके अनुसार वण में नित्यता रहती है और वे ध्वनियों से व्यक्त होते रहते हैं। वणों के नित्य होने से उनकी एकता अपने आप सिद्ध हो जाती है। वयाकरणों ने वणों की अनुभूति को क्षणिक बताया है। अतः इनके मत से वणों की एकता सम्भव नहीं है।

स्फोटवाद का प्रतिपादन करते हुए ऋषय पदीप में कहा गया है कि हमारे मुख से जो बखरी वाणी निकलती है उसकी इकाई वाक्य है। वह वाक्य अनेक तदनु रूप भाषण वर्णों व ध्वनियों का आवरण धारण कर व्यक्त होता है। वाक्य की उत्पत्ति स्फोट आत्मा से होती है। यह स्फोट आत्मा ध्वनि द्वारा व्यक्त होती है। ध्वनि नित्य तथा अभेद्यवाचक है वण अनित्य माना जाता किन्तु उनसे उद्भूत ध्वनि या शब्द अमर होता है। उसी ध्वनि को स्फोट कहते हैं। स्फोट वास्तव में अद्वैत और अखण्ड रूप है, किन्तु उपाधिभेद से स्फोट अनेक भाषा ध्वनियों में यत्न होता है। ध्वनि या नाद सवप्रथम आत्मा में उत्पन्न होता है यही ध्वनि बुद्धि प्राणादि में होती हुई स्थूल अर्गों में अभिव्यक्त होती है, क्योंकि ये स्थूल अर्ग विविध प्रकार के हैं। अतः वाणी भी भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। वण के नष्ट हो जान पर यह ध्वनि अमर हो जाती है। 'वाक्यपदीयकार' ने इसी भाव की अभिव्यक्ति निम्नलिखित श्लोक में की है—

तस्य प्राणे च या शक्ति या च बुद्धौ व्यवस्थिता ।

विद्यतमानास्थानेषु सपा भेद प्रकाशते ॥”

उदाहरण—गम्मत न ध्वनि अथवा उत्तम का य के सम्बन्ध में जो श्लोक उदाहरण के रूप में लिया है उसके सम्बन्ध में 'पदीयकार' ने बताया है कि इसमें कुछ लक्षण विपरीत लक्षण मानते हैं। उनका अनुसार 'तुम मेरे पति व साथ ही रमण करने गयी थी यह अथ विपरीत लक्षणा से ही प्राप्त होता है। इन योगों का कहना है कि जब का य प्रकाश के दूर उल्लास के सातवें उदाहरण में विपरीत लक्षणा है तो विषय साम्य से इसमें भी विपरीत लक्षणा ही हानी चाहिए। परन्तु इस मत के विरोधियों का ऐसा विचार है कि विपरीत लक्षणा से हम इगेव क अथ में कुछ परिवर्तन होकर इस प्रकार होगा कि 'तुम मेरे पति के पास गयी थी'। ऐसी दृष्टि में अधम पद का महत्व नहीं रह

१ निःस्पृह्युत चन्दनस्तनतट निमत्त रागोऽपरो—

नेत्रे दूरमनञ्जन पुलकिता तन्वी सवेय तनु ।

मिथ्यावाग्नि दूति बाधव जनस्यागात पीडामे

वापी स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यात्तिवम् ।

का० प्र० उ० १ उदाहरण २

२ साधयती सखि सुभग क्षणे क्षणे दू नासि मत्कृते ।

सद्भाव स्नह करणीय सद्भाव सावद्विरचितस्त्वया ॥

का० प्र० २/उदाहरण ७

जाता है और यह केवल उपहास का सूचक मात्र रह जाता है। अर्थात् "अधम प्रकृति वाले नायक का उपहास करने ही गयी था" वह अर्थ होगा। प्रदीपकार का मत है कि इससे अधम जाति के अभिजात कुल की दासी के साथ अभिसार करने का बोध होता है और उसकी अभिव्यक्ति ध्वनि से ही सम्भव है जो 'अधम' पद के प्रयोग से ही ध्वनित होता है। अतः यह ध्वनि धाय का उदाहरण है।

### ध्वनिकाव्य के भेद

ध्वनिकाव्य के भेदों की चर्चा करते हुए आचार्य मम्मट ने उसके दो प्रमुख भेद किये हैं —

१ अविधक्षित वाच्य ध्वनि अथवा लक्षणा मूला ध्वनि।

२ विधक्षित वाच्य (विधक्षितायपरवाच्य) अथवा अभिधामूला ध्वनि। इन दोनों का प्रमश वर्णन किया जायगा।

अविधक्षित वाच्य ध्वनि<sup>१</sup> अथवा लक्षणा मूला ध्वनि में वाच्य विधक्षित नहीं होता है। इसमें ध्वनि का आधार लाक्षणिक शब्द ही रहता है। अतः मुख्याय, वाध, उद्योग और रुद्धि या प्रयाजन में स अयतर का होना आवश्यक होता है। इस ध्वनि में लक्षणामूल गूढ व्यंग्य की प्रधानता होती है तथा वाच्य अविधक्षित रहता है। इस ध्वनि के दो भेद किये गये हैं। प्रथम अर्थात् सत्रमित और द्वितीय अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि।

अर्थात् सत्रमित में प्रयुक्त पदों का वाच्याय नहीं लगता है और उसके अनुपयुक्त होने से ही वह दूसरे अर्थ में सत्रमण कर जाता है। इसमें लक्षणा को हम मान सकते हैं। उसमें भी पराम के लिये अपन अर्थ का सम पण कर लिया जाता है।<sup>२</sup> मम्मट द्वारा दिये गये उदाहरण<sup>३</sup> में 'स्व' अस्मि' 'अहम्' 'अस्मि' आदि पदों का प्रयोग भी दूसरे अर्थ में सत्रमण कर जाता है।

अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि में प्रमगाति के आधार पर वाच्याय का अनुकूल अर्थ की सगति नहीं रहती है। अतः गतों का जो सामान्य अर्थ होता है उसे छोड़कर उर्ही गतों का सम्बद्ध किसी विषय अर्थ का बोध हो जाता

१ अविधक्षित—वाच्याय परतत्र वाच्य भवद्भवनी।

अथात्तर सत्रमितमत्यन्त वा तिरस्कृतम् ॥ का० प्र० ४/२४

२ का० प्र० २/१०

३ का० प्र० उल्लाम ४ उदाहरण २३

है। दिये गये उदाहरण<sup>१</sup> में प्रयुक्त उपवृत्त, मुजनता, 'इदशमेव', 'सुखित-मास्व', शरदाशतम् आदि पदों का बक्ता और बौद्धा के कथन के अनुसार वाच्याय उचित नहीं बरता है। अतः लक्षणामूलाध्वनि के इस भेद में विपरीत लक्षणा का सहारा ग्रहण किया जाता है। इससे प्रयुक्त शब्दों का अर्थ प्रचलित अर्थ से विपरीत अथवा उल्टा अर्थ लगता है। इस प्रकार वाच्य अर्थ पूर्ण रूप से तिरस्कृत हो जाता है। कहने के ढंग या कण्ठ की ध्वनि से भी इस प्रकार के काव्यों का बोध हो जाता है। जैसे उपयुक्त उपवृत्त आदि शब्दों का पूर्ण रूप से उल्टा अर्थ होकर अपवृत्त<sup>२</sup> आदि हो जायगा।

**अभिधामूलाध्वनि**—इसी का विवक्षित वाच्य ध्वनि भी कहा जाता है क्योंकि इसमें वाच्याय की भी विवक्षा बनी रहती है। इसके दो भेद असलक्ष्य क्रम व्यंग्य और सलक्ष्य क्रम व्यंग्य होते हैं।

असलक्ष्य क्रम अभिधामूला व्यंग्य ध्वनि को ही रसादि ध्वनि कहा जाता है। इसका बहुत से अन्तर्-भेद हो सकते हैं, परन्तु उनकी अनन्तता के कारण सबकी अलग-अलग गणना न होकर केवल उसका एक ही भेद 'रसादि ध्वनि' माने जाने की परम्परा रही है। इसी को असलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि भी कहते हैं। अर्थात् इसमें वाच्य और यथार्थ का एक क्रम रहता है परन्तु दोनों अर्थों का बोध इतनी शीघ्रता से होता है कि उसके क्रम का ज्ञान नहीं हो पाता। सर्वप्रथम विभावादि की प्रतीति होती है इसके बाद ही रसानुभूति सम्भव है। इस प्रकार इन दोनों की प्रतीति में पूर्वापर का क्रम बन रहता है परन्तु यह क्रम कमलक्ष्य पत्रभेदन, के समान ही रहता है। अर्थात् जिस कमल के सौ पत्तों का रखकर मूर्ई से उसका भेदन किया जायता मूर्ई क्रम से एक एक पत्ते को भेदती चली जाती है, परन्तु उसका भान हम नहीं हो पाता है, उसी प्रकार रसानुभव में विभावादि का क्रम रहता है परन्तु उसका ज्ञान नहीं हो पाता। इसी से इसे असलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि कहते हैं। भाव यह है कि विभावानुभावादि ही रस नहीं हैं अपितु वे ही रसानुभूति के कारण हैं<sup>३</sup> परन्तु शीघ्रता के कारण उनका अनुभव नहीं होने पाता। इस असलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि में रस भाव रसाभाव, भावाभास, भावोदय, भाव-संश्लेष, भाव-संबलत्व और भावगाति की प्रधानता रहती है। यदि इनकी प्रधानता न रहे अर्थात् ये अंग न होकर वस्तु या अलक्ष्यारादि के अंग बन जायें तो ऐसी दशा में इनकी ध्वनि सना न होकर

१ का० प्र० उ० ४ उदाहरण सख्या २४

२ नन्तु विभावानुभाव-यामिचारिण एव रस अपितु रमस्तन्त्रियमिति क्रम मनु भाषवात् न लभते। का० प्र० उ० ४ अति गार्



गुणीभूत व्यंग्य सजा हा जाती है जिसे काव्य का 'मध्यम' प्रकार कहते हैं<sup>१</sup>। ध्वनिकाव्य म रसादिध्वनि ही प्रमुख होती है। मम्मट न आठ रसों<sup>२</sup> एव आठ स्थायी भावों<sup>३</sup> का ही बणन किया ह और इ ही आठों को नाट्य रस कहा है। बाद में निवेद स्थायीभाव और शास्त्ररस की भी चर्चा की गयी है परन्तु इसे नाट्य रस नहीं माना गया है।<sup>४</sup>

अभिधामूला ध्वनि का दूसरा भेद सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि है इसी का दूसरा नाम 'अनुस्वानाम ध्वनि भी है। इस अनुस्वानाम या सलक्ष्य क्रम ध्वनि के तीन भेद सादशक्युत्प, अथशक्युत्प और उभयशक्युत्प-किय गये हैं।<sup>५</sup> इस ध्वनि में क्रम का जान बना रहता है। इसी से इसे सलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि कहते हैं।

शब्द शक्युत्प सलक्ष्यक्रम अभिधामूल व्यंग्य ध्वनि के दो भेद किय गये हैं। अर्थात् जहाँ शब्द स वस्तु अथवा अलंकार प्रधान रूप स प्रतीत हाता है, वह दो प्रकार का शक्युत्प ध्वनि<sup>६</sup> हाता है। इह क्रमश वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि कहा जाता है। इन दाना का उदाहरण क्रमश काव्य प्रकाश<sup>७</sup> क चतुथ उल्लास क ५८वें और ५४-५८व श्लोक हैं। वस्तु ध्वनि में एक ऐसी वस्तु का जान हाता है जिसम अलंकार न हा। और अलंकार ध्वनि में अलंकार ही व्यंग्य रूप में उपस्थित किया जाता है। इसम व्यंग्य अथ अलंकार रूप नहीं अपितु सत्ता अलंकार<sup>८</sup> ही हाता है फिर भी उसको शाल्पण श्रवण श्याय स अथवा भूतपूर्व श्याय से अलंकार कहा जा सकता है। इस गीण या औपचारिक व्यवहार कहत हैं। इसी कारण स प्रधानता के कारण जब अलंकार ही अलंकार बन जाता है, ता ऐसी दशा में भी उम पृण रूप के कारण अलंकार ही कहा जा सकता है।

अथ शक्युत्प सलक्ष्य क्रम अभिधामूलाध्वनि क बारह भेदों की चर्चा काव्य प्रकाश कार ने की है। इनम सबप्रथम कवि न तीन भेद किय हैं —

१ का० प्र० ४/२६

२ क० प्र० ४/३०

३ का० प्र० ४/३५ पृ० १३८

४ अनुस्वानाम सलक्ष्यक्रम व्यंग्यास्थिति स्तु य।

शाल्पाय भयानक्युत्पास्थिति स कथिता ध्वनि।

का० प्र० ८/३७-३८

५ का० प्र० ४/१८-२६

(१) स्वत सम्भवी (२) कविप्रौढोक्ति सिद्ध

(३) कवि निबद्धवक्त प्रौढोक्ति सिद्ध ।

इन तीनों के पुन दो दो भेद 'वस्तु ध्वनि' और 'अलंकार ध्वनि' किये गये हैं और इस प्रकार इनके छ भेद हो जाते हैं । पुन व्यंग्य और व्यञ्जक उपभेद से इन छहों के बारह भेद हो जाते हैं ।<sup>१</sup> जो निम्नलिखित प्रकार से समभाये जा सकते हैं —

[१] स्वत सम्भवी —

(१) वस्तु से वस्तु व्यंग्य (२) वस्तु से अलंकार व्यंग्य

(३) अलंकार से वस्तु व्यंग्य (४) अलंकार से अलंकार व्यंग्य

[२] कवि प्रौढोक्तिसिद्ध —

(१) वस्तु से वस्तु व्यंग्य (२) वस्तु से अलंकार व्यंग्य

(३) अलंकार से वस्तु व्यंग्य (४) अलंकार से अलंकार व्यंग्य

[३] कविनिबद्धवक्तु प्रौढोक्ति —

(१) वस्तु से वस्तु व्यंग्य (२) वस्तु से अलंकार व्यंग्य

(३) अलंकार से वस्तु व्यंग्य (४) अलंकार से अलंकार व्यंग्य

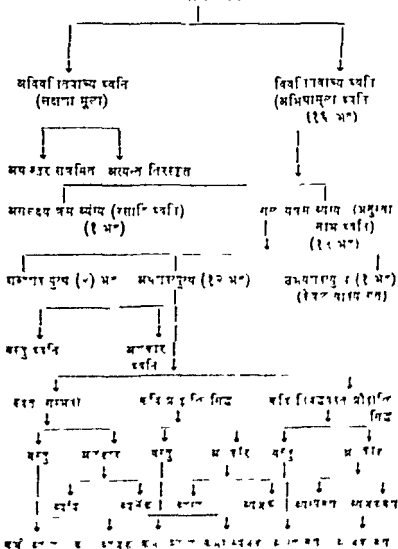
इन तीनों प्रमुख भेदों में जो अर्थ शक्ति से उद्भूत होते हैं, स्वत सम्भवी व्यञ्जक अर्थ लोक में पाया जाने वाला होता है । इसमें केवल कवि का कथन मात्र ही नहीं रहना है । दूसरे प्रकार का अर्थ यद्यपि लोक में नहीं पाया जाता है, फिर भी कवि की प्रतिभा द्वारा निर्मित होता है । इसे कवि प्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्ध वक्ता के द्वारा प्रौढोक्ति को प्राप्त अर्थात् साक में न पाये जाने पर भी केवल कवि कल्पना से काव्य में वर्णित अर्थ तीसरे प्रकार का होता है । इनमें स्वत सम्भवी के चार उदाहरण लोक १० ६३ तक कवि प्रौढोक्ति सिद्ध के चार उदाहरण ६४ ६७ तक और कवि निबद्ध प्रौढोक्तिसिद्ध के चार उदाहरण ६८ ७१ श्लोक में काव्य प्रकाश के चतुर्थ उल्लास में दिये गये हैं । इस प्रकार अर्थ शक्तयुक्त सलक्ष्यप्रम के बारह भेद होते हैं ।

समय शक्तयुक्त सलक्ष्य प्रम का केवल एक ही भेद माना जाता है । इस प्रकार आरम्भ के सभा भेद का मिलाकर ध्वनि के १८ भेद हो गये ।

ध्वनि के सम्पूर्ण भेद — उपर बताया जा चुका है कि लक्षणाभूला ध्वनि के दो भेद अर्थात्तर सप्रमति और अत्यंत तिरस्कृत तथा अभिधमूना

ध्वनि के सातह भेद—१ अगलक्ष्य प्रम और १५ सतस्य प्रम (२ भेद साज्ज्य प्रकृत्युत्प ध्वनि के, १२ भेद अथगतस्युत्प ध्वनि के और १ भेद उभयगतस्युत्प ध्वनि के) । ये सब मिलकर ध्वनि काव्य के कुल अठारह भेद हो गये । इन अठारह ध्वनि भेदों को और अधिक विस्तार करके इनकी कुल संख्या ५१ मानी गयी है ।

### ध्वनि-भेद



उपयुक्त १८ भेदों में उभयशक्त्युत्थ ध्वनि केवल वाक्य गत होती है। शेष १७ भेदों में से प्रत्येक पद गत एवं वाक्यगत भेद से ३४ प्रकार की हो जाती है। इसमें अथशक्त्युत्थ भेदों की स्थिति प्रबन्ध में भी होने से इनके १२ भेद हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त असलक्ष्य प्रथम व्यंग्य के पदाक्षरण, रचना तथा प्रबन्धगत होने से चार भेद और हो जाते हैं। इस प्रकार सब की संख्या  $१ + ३४ + १२ + ४ = ५१$  हो जाती है। अर्थात् ध्वनि अथवा उत्तम काव्य के ५१ भेदों की चर्चा मम्मट ने की है। जिस ऊर्णनित तालिका से समझा जा सकता है।

इस रीति से लक्षणा मूला के २ भेद और अभिधामूला के १५ भेद (उभयशक्त्युत्थ को छोड़कर जो केवल वाक्य गत होता है) = १७ भेदों के पद गत और वाक्यगत हान में कुल  $१७ \times ३ = ५१$  भेद रसादिध्वनि के तथा अथशक्त्युत्थ के १२ भेद प्रबन्धगत होने से और बन जाते हैं। अतः  $३४ + १२ + १ = ४७$  भेदों में पदाक्षरण, रचना और प्रबन्ध गत होने से ४ भेद और मिलकर कुल ध्वनि के ये ५१ भेद हैं। वैसे गणना के रूप में इनकी संख्या कई हजार तक पहुँच जाती है। परन्तु उपयोगिता के कारण निरर्थक समझकर उसका विस्तार करना आवश्यक नहीं प्रतीत होता है और उस छोड़ दिया जाता है। पाठक अपनी जिज्ञासा शक्ति के लिए वाक्य प्रकाश उल्लास ४ देख सकते हैं।

### गुणीभूत व्यंग्य काव्य

काव्य के विभेदा पर विचार करने हुये पन्ने उपर तीन भेद—

(१) ध्वनि काय अथवा उत्तम काव्य (२) गुणीभूत व्यंग्य काय या मध्यम काव्य और (३) चित्र काव्य अथवा अधम काय किये गये थे। इन तीनों में सबप्रथम ध्वनि काय का अभी तक सामान्य परिचय दिया जा चुका है। अब गुणीभूत व्यंग्य काव्य का परिचय दिया जायगा।

स्वरूप — आचार्य मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य काव्य की परिभाषा इस रूप में दी है कि 'जिस काव्य में व्यंग्याथ ध्वनिकाय के समान चमत्कारक नहीं होता है अर्थात् जिसमें वाक्याथ ही व्यंग्याथ की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक होता है, उसे गुणीभूत व्यंग्य काव्य अथवा मध्यम काव्य कहा जाता है।' पहले बताया गया है कि ध्वनि काव्य के असलक्ष्य प्रथम व्यंग्य ध्वनि में रस, भाव, रसाभास, भावाभासादि की प्रधानता रहती है। यदि इनकी प्रधानता न रहे अर्थात् ये अंगी न रह कर अलंकार वस्तु आदि का अंग हो जाय, तो ऐसी दशा में इन्हें गुणीभूत व्यंग्य काव्य कहा जाता है।

१ गणार्थोभयभूतक भेदा अष्टादशास्यतत् । का० प्र० ६/४१

२ अतः अतिगुणीभूतं अथवा अतिगुणीभूतं नृमत्तम् । का० प्र० १/५

५ सदिग्ध प्राधाय गुणीभूत व्यंग्य म व्यंग्याय अथवा वाच्याय के सम्बन्ध म यह स्पष्ट बना रहता है कि इन दोनों म प्रधानता किम्बदी है ? इसमें किसी भी एक अथ की प्रधानता क सम्बन्ध म निश्चित जान का अभाव रहता है और बुद्धि सन्धिधावरथा म दोलायमान रहती है। इसी स इसे सन्धि प्राधाय कहा जाता है। न्मि गये उदाहरण सख्या १३० में यह निश्चित नहीं हो पाता है कि नेत्रों के स्पष्ट रूप म दर्शन का व्यंग्याय पावती के अधरा का चुम्बन लन म सम्बन्धित है अथवा वाच्याय रूप नेत्रों का व्यापार मात्र ही प्रधान रूप म अभिप्रत है। इसी ग स देह की अवस्था बनी रहती है और निणय का अभाव होन से सदिग्ध प्राधाय व्यंग्य कहा गया है।

(६) तुल्य प्रधान गुणीभूत व्यंग्य वाच्य म वाच्याय और व्यंग्याय की प्रधानता तुल्य रूप म बनी रहता है। इसम व्यंग्याय की प्रधानता वाच्याय की प्रधानता से अधिक नहीं होती। दोनों का एक समान ही महत्व बना रहता है। उदाहरण स १३० म व्यंग्याय राक्षसों का नाग और वाच्याय रावण के गौरव निवेदन तथा सीहाद का सूचन दोनों का सम प्राधाय है।

(७) काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य वाच्य वहाँ होता है जब व्यंग्याय काकु द्वारा (अर्थात् कठ के विंगय प्रकार के उच्चारण ढग से) प्रकट होता है और इस गुणीभूत के अतगत मानते हैं। जैसे दिये गये उदाहरण सख्या १३१ म भीम की शक्ति मे काकु क द्वारा यह व्यंग्य अथ निवृत्तता ह कि मैं दुर्योधन आदि सी वीरवों को अवश्य मारूंगा दु गसन का रुधिर पान करूंगा तथा गदा से दुर्योधन क उर युगल का चूण करूंगा। क्योंकि कुर कुल के नाग करने की प्रतिज्ञा करने वाले भीम की 'न मर्यामि' आदि निषेधारमक, उतियाँ उनकी प्रतिज्ञा क प्रतिवृत्त हैं और ऐसे 'न' द्वारा ही यह काकु स्पष्ट है। अत अवश्य मारूंगा यह व्यंग्याय है और वाच्य अथ है कुर कुल विनाश के प्रतिज्ञा का भग होना। अत पहले शीघ्रता से व्यंग्याय की प्रतीति होने के बाद ही वाच्याय की प्रतीति होती है और इस प्रतीति का साधन है 'काकु' अथवा कहने का स्वर। इसी से इस काकु से आक्षिप्त व्यंग्य वाच्य कहा गया है।

(८) समुद्धर व्यंग्य गुणीभूत व्यंग्य वाच्य म व्यंग्याय वाच्याय की उपेक्षा कम सु र होला है। दिय गये उदाहरण मे व्यंग्याय है—नामी-मुक्क का वेतस कुञ्ज म प्रवेश करना—और वाच्याय है 'गृहकम मे रत सुदरी के अर्गों म व्याकुलता उत्पन होना। इसमे व्यंग्याय म वह चमत्कार नहीं है जो वाच्याय

म है। इस उदाहरण में 'अङ्गो म अवसाद का उत्पन्न होना' वाच्याय है और इस वाच्याय का ज्ञान विना व्यग्याय की अपेक्षा के ही हो जाता है तथा यह वाच्याय ही विप्रलम्भ भाव का पोषक है, और अधिक चमत्कारजनक भी है।

इस वाच्य के सम्पूर्ण भेद प्रभेद—यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि ध्वनि का व्यय की ही भाँति गुणीभूत व्यग्य वाच्य का भी इन आठ भेदों के अतिरिक्त अर्थ भी बहुत से भेद हो सकते हैं अर्थात् जिस ध्वनि वाच्य के शुद्ध भेद-प्रभेद 'अर्थात्तर सन्नमित वाच्यत्व की विशेषताओं से सम्भव है तथा सवीण अवात्तर भेद शक्य' और 'सन्नमित' का आधार पर हो सकते हैं, उसी पर गुणीभूत व्यग्य के भी भेद प्रभेद हो सकते हैं। परन्तु सभी स्थानों पर सम्भव नहीं है, क्योंकि जहाँ "वस्तु रूप वाच्य के द्वारा अलकारों का अभिव्यञ्जन हो रहा हो, वहाँ अभिव्यग्य अलकार ध्वनि होगा, गुणीभूत व्यग्य नहीं होगा।"

मम्मट ने ध्वनि के ५१ मुख्य भेद बताये हैं। उनमें से वस्तु व्यग्य अलकार रूप स्वतः सम्भवी कवि प्राद्वोक्ति सिद्ध और कवि निवद्ववन्त प्रौढात्ति सिद्ध भेदों के प्रत्येक में पदगत वाक्यगत और प्रवाचगत भेदों की कल्पना गुणीभूत में नहीं की जा सकती है। अतः ध्वनि वाच्य के उन ५१ भेदों में से ६ भेदों को निवाल देने पर गुणीभूत व्यग्य वाच्य के कुल ४२ भेद प्रमुख रूप में हो सकते हैं। गुणीभूत व्यग्य के इन भेदों में जो अलकार रूप में भी सम्भव होते हैं, तथा जो उपमादि अकारों से युक्त भी होता है—मकर और सस्रष्टि की सम्भावना के साथ 'ध्वनि के सम्मिश्रण से जो भी भेद हो सकते हैं। इस प्रकार से इन दोनों का सम्मिश्रण से भी भेदों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है। परन्तु उन सभी भेदों का गणना का महत्व नहीं है तथा उनका बहुत उपयोग भी नहीं होना है। अतः प्रत्येक भेद-४२ ही मानना चाहिए। उसके अर्थ भेद प्रभेद करना केवल मात्र गणना की सन्तुष्टि के लिए ही है। मच तो यह है कि आचार्य मम्मट इस गणना का महत्व नहीं देते और उनका मुख्य उद्देश्य ध्वनि के स्वस्व का उन्मीलन करना एवं उसके रहस्यों का उद्घाटन करना ही रहा है। इसी से केवल इसका मन्तव्य करने पर 'ध्वनि' की स्थापना करने में ही उन्होंने अपनी सभी मानसिक शक्ति केन्द्रित कर दी है और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई है।

१ यथायागमिति । व्यञ्जते वस्तुमात्रेण यथाऽऽवृत्तयन्तः । ध्रुव ध्वयङ्गता तासा वाच्य वत्तस्तदाश्रयात् । इति ध्वनिवारावतन्निशा वस्तु मात्रेण यथाअकारो व्यञ्जयत न तत्र गुणीभूत व्यग्यत्वम् । का० प्र० प० उत्सास ।

## चित्र-काव्य

स्वरूप—व्यंग्य अथ ग रन्ति अवर (अधम) काव्य शब्द चित्र और अथ चित्र भेद से दो प्रकार का है। इसी अवर काव्य को आनन्दधन ने चित्र काव्य कहा है। यह विभेद व्यंग्याथ के प्राधाय या अप्राधाय के आधार पर किया गया है। जहाँ व्यंग्याथ की प्रधानता होगी, वहाँ ध्वनि काव्य, जहाँ व्यंग्याथ की प्रधानता नहीं होगी वहाँ गुणीभूत व्यंग्य काव्य और जहाँ व्यंग्याथ की स्थिति ही न हो वहाँ चित्रकाव्य होता है।<sup>१</sup> अर्थात् इस काव्य में काव्य की आत्मा ध्वनि का सवधा अभाव रहता है। इसमें न तो रस भावादि का रहस्य होता है, न ध्वनि का प्रवागन, अपितु गल् और अथ के वाच्य के आधार पर चित्र की भाँति एक कथन मात्र रहता है जहाँ गल् का ही कथन होता है, वहाँ उपमादि अलंकार होते हैं। वास्तव में यह काव्य न होकर ध्वनिवार क मत से काव्य का अनुकरण है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि रसभावादि के विश्रांति रूप आनन्द से गूँथ सभी प्रकार की अलंकार योजना चित्र काव्य के अंतर्गत आती है। यदि इस अलंकार योजना में रस भावादि अभिव्यंग्य है तो वह चित्रकाव्य न होकर ध्वनि काव्य की ही परिधि में आयागा। मम्मट ने कृत्ति भाग में कहा है कि चित्र से अभिप्राय है—गुण की व्यञ्जना करने वाले शब्द तथा अथ और शब्द अथ में अलंकार रचना। अव्यंग्य वा अथ व्यंग्याथ की स्फुट प्रतीति की रहितता से है। अधम होने से उसे अवर काव्य कहा गया है।<sup>३</sup>

भेद—इसके दो भेद किये गये हैं। (१) शब्द चित्र (२) अथ चित्र। शब्द चित्र से गल्-अलंकार की प्रधानता रहती है और कवि का ध्यान शब्द में विचित्रता उत्पन्न करने में ही लगा रहता है। जब अथ की अपेक्षा गल् में ही विचित्रता उत्पन्न करने की ओर कवि उन्मुख हो, तो वहाँ शब्द चित्र माना

१ गल्-चित्र वाच्यचित्रमव्यंग्यमवर स्मृतम्—का० प्र० १/५

२ प्रधानगुणभावाम्ना व्यंग्यस्यैव व्यवस्थिते । काये उभेततोऽन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते ।

चित्र गल्नाथ भेदेन द्विविध च व्यवस्थितम् । तत्र किञ्चिच्छब्दचित्र वाच्यचित्रमत परम् ॥ ध्वन्यालोक ३/४२-४३

३ चित्रमिति गुणाकारयुक्तम् । अव्यंग्यमिति स्फुट प्रतीयमानार्थं रन्तिम् । अवरमधरम् ।

जाता है। शब्द चित्र म अथ वचिभ्य का मवया अभाव नहा होता। प्रथम उल्लास म दिय गये उदाहरण<sup>१</sup> म शब्दों की विचित्रता के कारण वहाँ अनुप्रास अलंकार है, साथ ही व्यतिरिक्त अलंकार के रूप मे अर्थालंकार भा है तथा अवर काव्य के दूसरे उदाहरण<sup>२</sup> म अथ वचिभ्य का प्राधाय है पर तु साथ मे अनुप्रास अलंकार भी स्पष्ट रूप म दिखार्द पडता है।

क्षेत्रों की उभयगतता—इसी प्रकार अथ चित्र मे अथ का वचिभ्य रहता है। तात्पर्य यह हुआ कि अथ वाचिभ्य मे शब्द वचिभ्य गौण रहता है और शब्द वचिभ्य म अथ वचिभ्य गौण रहता है। इस प्रकार के काव्य म कवि का विशय म तय ही शब्द या अथ के वचिभ्य को स्पष्ट कर देता है तथा इस प्रकार जिम सौ न्य का विधान हाता है उसमे दोनों का योग होता है क्योंकि शब्द अथ बोधक होता है और अथ शब्द द्वारा बोध्य है। अत यह सौंदर्य उभयगत हाता है।

नामकरण का आधार — शब्द सौंदर्य म काव्यानुद तो रहता ही है पर तु विभावादि सामग्री व अभाव म शृ गारान्ति रसों की अभि यक्ति नही हो पाती। इससे शब्द सौष्ठव और रसास्वादन का सम्ब ध नही मालूम पडता है, परन्तु शब्द द्वारा ही अथ सौष्ठव की प्रतीति होने से दोनों की ही उपादेयता बनी रहती है और काव्य निर्माण म दोनों के सौन्दर्य विधान पर कवि की दृष्टि रहती है। पष्ठ उल्लास म दिय गये प्रथम उदाहरण म म, त, क, घ, ख ल आदि यजनो के दियेस म अनुप्रास व सौ दय व साथ ही स्वाभावोक्ति और उपमा का भी सौ न्य वतमान है पर तु 'प्राधायन व्यपदेशा भवति' अर्थात् प्रधानता के कारण हा नामकरण होता है इस नियम के अनुसार यहाँ शब्द चित्र ही होगा यद्यपि अथ सौष्ठव भी वतमान है।

दूसरे उदाहरण म अथ का सौ दय वतमान है। इसमे शिल्प पदों के साथ उपमा का भी सौ न्य है। पर तु य दोनों उपमा और शिल्प पद एक ही अथ को पुष्ट करते हैं। अत कवि का ध्यान 'सम्बुच्चय-अलंकार' की ओर ही अधिक रमा है और इससे अथ चित्रण का ही सौंदर्य स्पष्ट होता दीख पडता है।

इस प्रसंग मे इतना कहा जा सकता है कि शब्द चित्र और अथ चित्र दोनों ही अत्यन्त जयवा अवर काव्य के अतगत भात हैं। यद्यपि इनकी उपादेयता भी अततामत्वा काव्य म विभावादि की योजनारूप मे परिणत

१ का० प्र० १/४ उदाहरण

२ का० प्र० १/५ उदाहरण



हा सकती है, फिर भी स्फुट रूप से व्यंग्याय की प्रतीति कराना कवि का उद्देश्य नहा होता है ।

काव्य सजा की सम्भवनीयता — ध्वनिवार<sup>१</sup> ने भी इसका समयन किया है कि चित्र वाक्य म रस रूप व्यंग्याय का अभाव रहता है । ऐसी दशा मे रस पू य होने पर भी उसे काव्य की सजा दी जा सकती है या नहीं ? उनका विचार है कि ससार की प्रत्यक वस्तु चित्तवृत्ति को अवश्य प्रभावित करती है अथवा प्रत्यक वणन किसी न किसी रस भावादि का अग भी बन ही जाता है । किसी भी प्रकार की मानव चेतना अथवा संवेदना बयो न हो, उसका सम्ब ध कवि हृदय से अवश्य ही स्थापित हो जाता है । ऐसा दशा में वह काव्य या विषय हो ही जाता है । परतु कवि का उद्देश्य चित्र वाक्य म तो शब्द चित्र या अथ चित्र उपस्थित करना होता है । भले ही उससे रस भावादि की पुष्टि हो जाय । सहस्र जनों को इससे भी आनन्द प्राप्त हो सकता है परतु वह पूण रसानुभूति नहीं होगी । क्याकि रस दृष्टि से कवि हृदय का पूरा सहयोग न होने से उसकी दृष्टि तो शब्द या अथ चित्रण तक ही सीमित रहती है । अत चित्र-काव्य म रस भावादि से युक्त काव्य की भाँति सरसता का अभाव रहता है और इसी दृष्टि से उसे नीरस काव्य की सजा दी गई है ।

निणय — का य सम्बन्धी अभी तक के दिये गये विवरणों के आधार पर अब यह नि सन्देह कहा जा सकता है कि का य की उत्तमता का एक मान आधार व्यंग्याय की चारुता ही है । अर्थात् जिस का य म यव्य अथ की प्रधानता रहती है, तथा उसी के चारुत्व का प्रदान कवि का अभि प्रत होता है, उसे उत्तम काव्य अथवा ध्वनि का य की सजा दी गई है । अधम या अवर का य उसे कहा गया है जिसम एक चमत्कार तो अवश्य होता है, परतु वह व्यंग्य के कारण न होकर शब्द अथवा अथ जय होता है अथात् शब्दाथ यचित्रय से ही वह चमत्कार उत्पन्न होता है । और जहाँ पर मध्यम माग का अनुसरण किया गया हो— अर्थात् व्यंग्याय ओर वाच्याय दानों की स्थिति हो परतु यव्य य की अपक्षा वाच्याय ही अधिक चमत्कार विधायक हा तथा यह वाच्याय का अग होकर आया हो तो वहाँ पर मध्यम-काय की अथवा गुणीभूत व्यंग्य काय होगा । इस प्रकार ध्वनिसम्प्रदाय वाला की दृष्टि म व्यंग्याय का अत्यधिक महत्व है और किसी भा रचना की उत्तमता की कसौटी भी यही व्यंग्याय ही माना गया है ।

१ ध्वन्यालोक—३रा उद्योत “प्रतीयमानोप्यथास्त्रितिभेद व्यवस्थाप्यते ।”

## वाच्यार्थ और अभिधाशक्ति

शब्दों के स्वरूप का निणय करते हुए मम्मट ने काव्य प्रकाश के द्वितीय उल्लास में बताया है कि वाचक, लक्षक और व्यञ्जक तीन प्रकार के शब्द होते हैं, और यही तीन प्रकार के शब्दों से वाच्य, लक्ष्य, और व्यंग्य तीन प्रकार के अर्थों का भी बोध होता है। मीमांसकों के मत से इन तीनों के अतिरिक्त तात्पर्याय नामक एक चौथा अर्थ भी मानना चाहिए। इस अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति तात्पर्याय शक्ति कही जाती है। अर्थ तीन अर्थों का बोध कराने वाली शक्ति लक्षणा और व्यञ्जना नामक शब्द शक्ति से होता है। इन चारों शक्तियों का यथा प्रसंग विस्तार से वर्णन किया जायेगा। संक्षेप में यहाँ उनके स्वरूप की चर्चा मात्र की जा रही है।

जब कोई शब्द अपने साक्षान् संकेतित अर्थ का (सीधे रूप में ही प्रचलित अर्थ का) बोध कराता है तो वहाँ उस अर्थ की प्रतीति में शब्द का व्यापार करने वाली शक्ति को अभिधा शक्ति कहते हैं और उसमें बोध्य अर्थ को वाच्य अथवा अभिधायक कहते हैं। इस संकेतित अर्थ का बोध जब न हो और उससे सम्बद्ध किसी अर्थ का बोध जिस शब्द की शक्ति द्वारा होता है उस लक्षणा शक्ति और उस अर्थ को लक्ष्याय कहते हैं। जब वाच्य अर्थ और लक्ष्याय से आगे प्रकरणादि के कारण एक सवथा नवीन अर्थ का बोध होता है तो यह व्यञ्जना व्यापार कहा जाता है। इसका बोध कराने वाला शब्द व्यञ्जक और अर्थ व्यंग्य होता है। तात्पर्यायशक्ति वास्तव में शब्द की शक्ति नहीं है। मीमांसकों के दिय गये उदाहरणों में इसे वाच्य शक्ति कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

शब्द की उपाधियों का विभाग — स्मरण रखना चाहिए कि वाचक, लक्षक और व्यञ्जक इन तीन प्रकार के शब्दों का जो वर्णन किया गया है, वह विभाग वास्तव में शब्दों का नहीं है अपितु उनकी उपाधियों का है अर्थात् एक ही शब्द प्रकरणादि के कारण कभी वाचक, कभी लक्षक और कभी व्यञ्जक हो जाता है। कोई एक निश्चित शब्द केवल वाचक ही हो अथवा लक्षक या व्यञ्जक ही हो इस प्रकार नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि एक

ही शब्द जो एक बार वाचक रहा हो, दूसरे प्रसंग में लक्षक और तीसरे प्रसंग में वही व्यञ्जक हो जायेगा। अतः वाचक, लक्षक, और व्यञ्जक का यह विभाग शब्दों का न होकर शब्दों की उपाधियों का ही होता है।

अभिधा और व्याख्याय — जो शब्द साक्षात् सकेतित अर्थ की बताता है, वह वाचक कहा जाता है<sup>१</sup>, और इससे जिस अर्थ का बोध हाता है वह मुख्य अर्थ होने से वाच्याय हाता है तथा इस वाच्याय को बताने वाला शब्द की अभिधा शक्ति होती है<sup>२</sup> अर्थात् जिस शब्द शक्ति से मुख्य अर्थ का बोध होता है, उस अभिधा कहते हैं और यही मुख्य क्रिया भी कही जाती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह मुख्य व्यापार शब्द के अमुख्य-व्यापार— जो अभिधामूला यज्ञना में पाया जाता है—से भिन्न है। आचार्य जगन्नाथ ने कहा है कि अभिधाशक्ति उस व्यापार को कहते हैं, जहाँ अर्थ का शब्द में और शब्द का अर्थ में साक्षात् सम्बन्ध हो<sup>३</sup>। सामान्य भाषा में इसे इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं कि शब्द का जन साधारण में प्रचलित एवं जहाँ प्रसिद्ध अर्थ होता है, उसे ही अभिधेयाय कहते हैं। इस अर्थ का बोध दैनिक व्यवहारों से ही सम्भव होता है। इस प्रकार शब्द से व्यक्त हाने वाले साध अर्थ को ही वाच्याय कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि सकेत के द्वारा ही शब्द से अर्थ ज्ञान होता है।

अर्थ ज्ञान में सकेत — सकेत का स्वरूप जन और प्रक्रिया में सम्बन्ध में बताया गया है कि किसी शब्द के प्रयुक्त होने पर सकेत के सहारे हम किसी शब्द से अर्थ विशेष को ही ग्रहण करते हैं यथा जब हम 'गो' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इससे एक ऐसे पशु विशेष का अर्थ जाना जाता है जिसके चार पर दो सींग एक गल कम्बल और इसी प्रकार की अन्य चीजें होती हैं अर्थात् 'गो' शब्द से सास्नादिमान् एक पशु विशेष का बोध होता है। इसमें 'गो' शब्द उस पशु विशेष का वाचक शब्द है, वह पशु उस शब्द का वाच्याय है और इसमें शब्द का अभिधा-व्यापार अपना काय करता है। अतः वाचक

१ साक्षात्सकेतित योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ।

२ स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽभ्याभिधाच्यते । वाच्य प्रकाशं दूसरा उल्लास

३ शब्दव्यापारोऽर्थस्य शब्दगत शब्दव्यापगतो वा सम्बन्धविशयोऽभिधा रस गंगाधर १४०

शब्द से सदव वाच्याय का ही बोध हो सकता है और सब प्रथम किसी प्रयुक्त शब्द से वाच्याय रूप मुख्य अर्थ की ही प्रतीति होती है। इस अर्थ का बोध होने पर ही इससे सम्बद्ध अर्थ अर्थों की प्रतीति सम्भव है। इस प्रकार अभिधाशक्ति द्वारा अर्थ बोध की प्रक्रिया में सकेत का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इस स्थान पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि शब्द को यहाँ वाचक कहा गया है जो शब्द को ग्रहण कराने में सहायक होता है, परन्तु व्यवहार में हम शब्द का प्रयोग न करके या तो वाक्य का प्रयोग करते हैं, या शब्द वाक्य का। अतः वाक्य के स्वरूप की समझ लेना आवश्यक है।

**वाक्य का स्वरूप** — आचार्य विश्वनाथ ने बताया है कि 'योग्यता आकाशा और सन्निधि से युक्त पदोच्चय ही वाक्य कहा जाता है।'<sup>१</sup> अर्थात् उस शब्द 'समूह' को वाक्य कहेंगे जिसमें आकाशा, योग्यता और सन्निधि के सहारे एक निश्चित अर्थ की अभिव्यक्ति है। आचार्य मम्मट ने कहा है कि "पदार्थों का आकाशा योग्यता और सन्निधि के बल से परस्पर सम्बन्ध होने में पदा से प्रतीत होने वाला अर्थ न जान पर भी विशेष प्रकार का तात्पर्याय रूप वाक्याय प्रतीत होता है। यहाँ अभिहिता वय वादियों का मत है।"<sup>२</sup>

**आकाशा** — इन तीनों पारिभाषिक शब्दों को समझ लेना आवश्यक है। जैसे 'गामानय' 'गाय ले आओ' वाक्य में यदि केवल 'गाम' या ही कथन किया जाय और 'आनय' का नहीं तो वाक्य का अर्थ की पूर्ति की आकाशा बनी रहगी और श्रोता की जिज्ञासा पूर्ण नहीं हो पायेगी अर्थात् एक पद सुनने के उपरान्त जब दूसरे पद को सुनने की अभिलाषा बतमान रहें और बिना उस शब्द या पद को सुने पूर्ण अर्थ का ज्ञान न हो तो यही 'आकाशा' होगी। इस प्रकार श्रोता की जिज्ञासा को ही आकाशा कहेंगे।

**योग्यता** — अनौचित्य के अभाव को योग्यता कहते हैं। इससे पदों के अर्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा नहीं होनी चाहिए। यदि बाधा हागी तो उसे न तो वाक्य ही कहेंगे और न उससे एक साथ वाक्याय बोध ही

१ वाक्य स्याद् योग्यताऽआकाशासन्निधियुक्त पदोच्चय — साहित्य द्रवण

२ आकाशा योग्यता सन्निधिवत्पदसंयमाणस्वरूपाणा इत्यभिहिता वाक्यवादिना मतम् ।" काव्य प्रकाश रेरा उल्लास

होगा। जस 'अग्निना सिञ्चति' वाक्य का अर्थ 'अग्नि में सींचता है' होगा, परन्तु यह वाक्य अनुचित है क्योंकि अग्नि से सिंचन त्रिया सम्भव नहीं है और दोनों का तात्त्विक तथा लौकिक व्यवहार के अनुरूप उचित सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। इसमें अग्नि में सिंचन की योग्यता का सर्वथा अभाव है। अतः इस पद समूह में अनौचित्य होने के कारण इसे वाक्य की सजा नहीं दी जा सकती है।

सन्निधि— वाक्य में स्यात् और समय का व्यवधान न पढ़ना सन्निधि कहा जाता है। इसमें किसी एक ही व्यक्ति द्वारा अविलम्ब से पदों का उच्चारण होना आवश्यक माना जाता है। यदि कोई व्यक्ति एक वाक्य के विभिन्न पदों का उच्चारण समय के व्यवधान से करे, तो हम उस वाक्य नहीं कहेंगे।

कुमारिल भट्ट का मत— अभिहितानुवाद में पदों से पहले अनिचित पदार्थ उपस्थित होते हैं और बाद में पदों की आकांक्षा योग्यता और सन्निधि के बल से तात्पर्याख्या शक्ति से उन पदार्थों का ससंग रूप या अर्थ का बोध होता है। वाक्य में शब्द केवल अपने अर्थ का ही बोध कराने में सक्षम होते हैं परन्तु वाक्य में बहुत से ऐसे पदों का भी प्रयोग होता है जिनका साधारण अर्थ उचित नहीं बैठता। ऐसी दशा में तात्पर्य के अनुरूप ही उसका बोध हो सकता है जैसे 'घट करोति' वाक्य में घट का अर्थ घात और 'कराति' का अर्थ 'करता है'। अर्थात् घटा करता है—यह शक्य हुआ, परन्तु वाक्य का वास्तविक अर्थ इसे हम नहीं मान सकते हैं, क्योंकि घटा करने का अर्थ व्यवहार में नहीं लिया जाता है अतः इसका अर्थ भिन्न रूप में ही लगाना पड़ेगा। अर्थात् 'घटनिष्ठ यत् कर्मत्वे तदनुकूलवृत्ति करोति' यह अर्थ होगा। इससे 'घट करोति' वाक्य से निष्पत्ति का तात्पर्य ग्रहण नहीं होता है परन्तु वाक्य में प्रयुक्त विभिन्न शब्दों की आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि की अभाव से ही इस अर्थ का ग्रहण सम्भव होता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि 'निष्पत्ति' का अर्थ शब्द की अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना किसी भी शक्ति से ग्रहण नहीं किया जा सकता है अपितु वक्तव्य के अर्थ के उद्देश्य के अनुसार ही शब्दों की आकांक्षादि के योग से इस अर्थ का बोध होता है। अतः योग्यता आकांक्षा और सन्निधि के सम्बन्ध से प्राप्त अर्थ से भिन्न जिस दूसरे अर्थ या भाव का ज्ञान होता है वही वक्तव्य का तात्पर्य होता है और इस अर्थ को तात्पर्याख्या कहते हैं तथा इसका बोध कराने वाली शक्ति तात्पर्याख्या शक्ति कही जाती है। साहित्यदण्डकार

ने भी इसी बात का समर्थन किया है।<sup>१</sup> अभिहिता वयवादियों का यही मत है। ऐसा लगता है कि आचार्य मम्मट का विचार कुमारिल भट्ट से भिन्न था। इसी से उन्होंने अपनी कारिका में “तात्पर्यार्थोऽपि वेपुचित” लिखा है।

कुमारिल भट्ट के मत का सब प्रथम सङ्गन उही क शिष्य प्रभाकर भट्ट ने किया है। बाद में शालिकरनाथ मिश्र आदि अविताभिधानवादियों के द्वारा कुमारिल भट्ट के इस मत का खण्डन किया गया है।

अविताभिधानवाद क अनुसार पहले से अचित पदार्थों का ही अभिधा से बोध होता है और पदार्थों का अ वय पहले से ही सिद्ध होने क कारण तात्पर्याख्या शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं होती है। इसी से अचित पदार्थों का अभिधा से बोध होने से इसका नाम ‘अविताभिधानवाद’ कहा गया है।

इसका स्पष्ट करने क लिये प्रभाकर भट्ट ने सकेत ग्रहों की चर्चा की है। ये सकेतग्रह व्याकरण, काय, उपमान, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्य शप, विवक्ति और सिद्धपद के सात्त्विक्य से सम्भव होते हैं।<sup>२</sup> अतः इनसे यह प्रकट हो जाता है कि किसी शब्द से विशेष अर्थ का ही ज्ञान उस प्रसंग में होता है अर्थात् अमुक शब्द से अमुक अर्थ का ही ज्ञान होगा, इस प्रकार क शक्तिग्रह के आठ उपायों में व्यवहार ही सबप्रमुख है। और छोटे बालक के शब्दों से अर्थ ग्रहण करने की प्रक्रिया का उदाहरण क रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया है। बालक के इस व्यवहार ज्ञान की प्रिया को ‘आत्रापाद्वाप’ को सजा दी गई है।

व्यवहार द्वारा सकेतग्रह—छोटे बालक में सकेतग्रह का एक मात्र उपाय व्यवहार ही है। इसके अनुसार उत्तमवद्ध पिता आदि मध्यम वृद्ध भाई या भ्रातृ को गाय अथवा अय कोई वस्तु लाने के लिये आना देता है। पास में बड़ा छोटा बालक उत्तम वद्ध द्वारा कहे गये वाक्य को मुनता है तथा उमरी प्रतिक्रिया स्वरूप मध्यमवद्ध भाई द्वारा सास्नादिमान एक गाम रूपी पिण्ड विशय का लाता हुआ आँसु से ‘प्रत्यक्ष’ देखाता है। बालक ‘गाम’ और ‘आनय’ पद में से किसी को नहीं जानता है, परन्तु ‘पिता के द्वारा कहे गये वाक्य का अर्थ समझ-

१ तात्पर्याख्यावृत्तिमाह पदार्थावयवोर्ध्वीम ।

तात्पर्यार्थ तदर्थञ्च वाक्य तदवापक पर ॥ साहित्यदर्पण

२ शक्तिग्रह व्याकरणात्मान कोपाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य शपाद विवक्तवदति सात्त्विक्यत सिद्धपदस्य सिद्धा ॥

कर हो इस भाई पशु विशेष को लाया है, ऐसा वह अनुमान लगा लेता है । इस प्रकार सम्पूर्ण वाक्य 'गामानय' का तो उसे अर्थ जान हो जाता है, परन्तु अलग अलग पदों के अर्थ का जान उसे नहीं हाता है । पुनः दूसरे समय में 'गामानय' अश्वमानय आदि वाक्यों को सुनता है और तदनुकूल चेष्टाओं को देखता है और सुने हुए पद 'गाम' आदि को पुनः सुनकर उस पहचान लेता है तथा उन उन क्रियाओं को देखकर अवयव यतिरेक से प्रवृत्ति निवृत्तिकारी वचन ही प्रयोग के योग्य है ऐसा निश्चय कर लेता है ।<sup>१</sup> इस प्रकार बार बार किसी एक वाक्य की प्रतिक्रिया में एक ही प्रकार के व्यवहार को होता देखकर वह निश्चय कर लेता है कि वह लाया गया पिण्ड विशेष गाय है और उस यक्ति के सम्बन्ध से 'आनय' पद का भी उसे जान हो जाता है । इस प्रकार अविज्ञान ही शक्ति को व्यक्तिके सम्बन्ध से प्रकट करता है । अतः सकेतग्रह केवल पदार्थ में न होकर किसी के साथ अविज्ञान पदार्थ में ही माना जायगा । इसका तात्पर्य यह हुआ कि अविज्ञान पदार्थ में सकेतग्रह नहीं हो सकता है और अभिधा में जब इसका बोध हो ही जाता है तो तात्पर्याख्या शक्ति का मानना उचित नहीं कहा जा सकता है । अतः अविज्ञानाभिधानवाद ही ठीक है अभिहित वचनवाद ही नहीं है, यही प्रभाकर भीमासको के अविज्ञानाभिधानवाद का स्वरूप है ।

शब्दों से अर्थ की नियामकता — उपर्युक्त पक्षों में सकेत की जो चर्चा की गई है, उस सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है । किसी वाक्य में प्रयुक्त अमुक शब्द का अमुक अर्थ ही क्या लिया जाय इस समस्या का समाधान करने के लिये विद्वानों में दो प्रकार की विचार पद्धति दायर पड़ती है ।

(१) ईश्वरच्छा अर्थात् दिव्य उत्पत्ति का मत अभिधा शक्ति द्वारा वाचक शब्दों से जिन अर्थ का बोध होता है उस वाच्यार्थ अथवा मुख्यार्थ कर्तृ है और उस मुख्यार्थ का ग्रहण प्रत्यक्ष सकत से ही सम्भव है । परन्तु अमुक शब्द से अमुक अर्थ का जान होना चाहिए इस रूप में सकेत का विधायक स्वरूप की इच्छा ही मानी गई है । सर्वप्रथम वाक्य में प्रयुक्त किसी शब्द का अर्थ विगणन कस हुआ है, इसके लिये दार्शनिकों ने बताया है कि इसमें ईश्वर की इच्छा ही प्रधान है । इस मत के अनुसार सत्त्विके साथ ही ईश्वर ने शब्दों तथा उनके

१ " इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य-तस्य शब्दस्य तत्तमथमवधारयतीति अवयवयतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारिवाक्यमत्र प्रयोगमागमिति । ' वाक्य प्रकाश पंचम उल्लास

साक्षात् सकेतित अर्थों तथा उनके मुख्य सम्बन्ध की स्थापना स्वयं कर दी थी और हम उन्हें परम्परा से ग्रहण करने चञ्चल रहे हैं। यह मत उन न्यायियों का है, जो शब्द को नित्य न मानकर वृत्तक मानते हैं।

इस मत के विपरीत कुछ विद्वानों ने शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध माना है, वृत्तक नहीं। परन्तु शब्द से अर्थ का ज्ञान वे भी सकेत ग्रह से ही मानते हैं अर्थात् किसी शब्द से जिस अर्थ का ग्रहण होता है, उस अर्थ के ज्ञान के लिये शब्द और अर्थ के बीच में रहने वाले सकेत की जानकारी आवश्यक मानी गई है।

(२) सकेत ग्रह के सम्बन्ध में दूसरा मत अनिर्गम्यत्व है अर्थात् मानव समाज की चेतना के अनुसार ही नये शब्दों का निर्माण तथा नूतन शब्दों के अर्थों का निर्धारण विकास के साथ ही होता चला जाता है। इस मत में जनमत का समर्थन है और चेतनावाद की पुष्टि की गई है। सकेत का ग्रहण इस मत में भी होता है परन्तु यह सकेत ईश्वर वृत्त न होकर मानव-वृत्त है। यही इन दो विचारधाराओं में अंतर है।

सकेतग्रह के साधन—सकेत के साधन में भारतीय दार्शनिकों में बड़ा ही मतभेद है। वैयाकरणों ने जात्यादि चार भेद और भोमासकों ने केवल जाति रूप एक भेद माना है।<sup>१</sup> वैयाकरण और भोमासक दोनों ही यह मानते हैं कि सकेत यक्ति में नहीं हो सकता है। ऐसा न्याय में मन्तव्य नहीं माना जाय इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मत हैं—

- (१) भाट्ट भोमासक जाति में सकेत और आक्षेप से व्यक्ति का बोध।
- (२) श्राकर का मत—जाति में सकेत उत्पादन से व्यक्ति का ग्रहण।
- (३) मटन मिथ का मत—उक्षण जाति से व्यक्ति का ग्रहण।
- (४) प्रभाकर का मत—जाति में सकेत जाति के ज्ञान के साथ व्यक्ति का स्मरण।

(य चारों जातिवादी मत हैं)

(५) जात्यादिवादी वैयाकरण और नये व्याकरणिक मत-उपाधि में सकेत।

(६) न्यायिक मत—जाति विशिष्ट व्यक्तिवादी।

१ सक्वित्तदचतुर्भेदो जात्यादि जातिरेववा । वाच्य प्रकाश



(७) बौद्धमत—अपोहवादी ।

आचार्य मम्मट ने इन सभी मतों में वयाकरण मत का ही समर्थन किया है । इसके कई कारण बताये गये हैं ।

(१) इन्होंने प्रायः वयाकरणों का अनुसरण किया है और उन्हीं के मतों को मानने में अपनी रुचि भी दिखाई है ।

(२) पतञ्जलि के शब्द विभाग को उपस्थित करके इस मत का समर्थन किया गया है ।

(३, दशम उल्लास में विरोध अलंकार का विभाजन भी इसी आधार पर किया गया है ।

(४) उन्होंने शब्द व्यापार विचार नामक अनेक दूसरे ग्रन्थों में वयाकरणों के सिद्धांतों का ही समर्थन किया है ।

(५) मीमांसक सिद्धांत के अंत में 'अथ ये लिखकर इस मत के प्रति उदासीनता दिखाई गई है । अतः मीमांसकों का मत उनका मत नहीं हो सकता है । वस्तुतः वे वयाकरणों के ही अनुयायी हैं ।

वयाकरणों का जात्यादिवादी प्रथम मत—मम्मट ने इस मत की स्थापना करने के पूर्व व्यक्ति-गणितवादिमों के विचारों का पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया है और इनका सकेत उनकी धृति में किया गया है । उपर्युक्त चार मतों में से जात्यादिवादी और जातिवादी का उल्लेख कारिका में तथा व्यक्तिवादी तद्दानव दो और अपोहवादी का उल्लेख वृत्ति में किया गया है ।

(१) व्यक्तिवादी पूर्वपक्ष—नव्य न्यायियों के अनुसार सकेत जाति में न होकर व्यक्ति में ही माना जायगा । इसका अनुसार व्यवहार में हम देखते हैं कि व्यक्ति ही अथ क्रिया का निर्वाहक होता है, जाति नहीं । अतः व्यवहार द्वारा होने वाला सकेतग्रह व्यक्ति में ही सम्भव है जाति में नहीं । यथा 'गामानय' वाक्य में मुनने वाला किसी व्यक्ति का ही प्रयोग ही लाता है सम्पूर्ण गौ जाति को नहीं और न ही जाति का लाया जाना ही सम्भव है । इस प्रकार व्यवहार में गौ विशेष (गो-व्यक्ति) का ही प्रयोग होता है इसलिए व्यक्ति में ही सकेत माना जायगा, जाति में नहीं । तात्पर्य यह है कि जीवन की व्यावहारिक

१ 'अथ क्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियाय व्यक्तिरथ ।' भाष्य प्रवृत्ति  
दूसरा उल्लास पृष्ठ ४६

रिक क्षमता व्यक्ति में ही हाती है और सम्पूर्ण अर्थों की सिद्धि व्यक्ति द्वारा ही सम्भव है। जैसे यदि गाय से दूध प्राप्त करना हो तो हम व्यक्तिगत गाय के ही पास जाते हैं 'जाति' के पास नहीं। अतः व्यक्ति में ही सकेत का ग्रहण मानना चाहिये जाति में नहीं।

मम्मट द्वारा इस मत का खण्डन—आचार्य मम्मट ने इस मत का खण्डन अपनी वृत्ति में करत हुए दो तक दिये हैं।

(१) व्यक्ति में सकेतग्रह मानने से आनन्द्य और व्यभिचार नामक दोष होगा।<sup>२</sup>

(२) व्यक्ति में सकेत मान लिया जाय तो शब्दों का चतुर्विध विभाग (जाति गुण क्रिया यदृशात्मक) भी नहीं बन पाता है। इसलिए व्यक्ति में सकेत ग्रह मानना ठीक नहीं है। यहाँ पर आनन्द्य और व्यभिचार दोषों को समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

आनन्द्य दोष—सामान्यतया शब्द से जिस अर्थ विशेष की प्रतीति होती है उसी अर्थ में उस शब्द का सकेतग्रह हो सकता है। बिना सकेतग्रह के अर्थ की प्रतीति हो ही नहीं सकती है। अतः व्यक्ति में सकेतग्रह मानने से किसी शब्द विशेष में उसी व्यक्ति विशेष की ही उपस्थिति होगी, अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति नहीं हो सकती है। प्रत्येक अर्थ व्यक्ति की उपस्थिति के लिये अलग अलग सकेत शब्दों की आवश्यकता पड़ेगी। उदाहरण के लिये 'गो' शब्द से यदि किसी विशिष्ट गो-व्यक्ति की उपस्थिति हाती है, तो उससे अन्य गो-व्यक्तियों का बोध नहीं हो सकता है। उभक्त लिये अलग अलग सकेत शब्दों को मानना पड़ेगा। ऐसी दशा में विभिन्न गो व्यक्तियों के लिये विभिन्न और अलग अलग सकेतग्रहों की कल्पना करनी पड़ेगी और वही 'आनन्द्य' दोष माना जाता है। अतः व्यक्ति में सकेतग्रह सम्भव नहीं है।

व्यभिचार दोष—इस आनन्द्य दोष से बचने के लिये पूर्वपक्षी यदि यह कहे कि सभी गो व्यक्तियों में अलग अलग सकेत मानने की कोई आवश्यकता नहीं है केवल दो चार गो-व्यक्तियों में सकेत मान लेने से ही अन्य गो व्यक्तियों का भी बोध इसी से हो जायगा, तो ऐसी दशा में इससे प्रत्यक्ष रूप में दोष कियारा दीख पड़ेगी।

(१) व्यभिचार दोष ही जायगा अर्थात् इस प्रकार नियम का उल्लंघन माना जायगा। ऊपर यह नियम स्थिर हो चुका है कि सकेत की सहायता से ही

२ तद्यथाप्यानन्द्याद् व्यभिचाराच्च तत्र सकेत केतु न युज्यते। का०प्र०

कोई शब्द अर्थ विनाश की प्रतीति कराता है और यदि बिना सन्त के हो अर्थ बोध मानलें, तो यह नियम का उल्लंघन होगा। इस प्रकार व्यक्ति में सन्त मानने से आन्तर्य दोष और यदि दोष को तर्क के द्वारा हटाने का प्रयास किया जाय तो व्यभिचार दोष उत्पन्न हो जायगा।

(२) यहाँ यह भी कहा गया है कि कुछ गो व्यक्तियों में सन्त मान लिया जाय और शप का जान अपने आप हो जायगा, तो जिससे सम्बन्ध में सन्त नहीं किया गया है उसको भी हम स्वयं पहचान लेंगे। ऐसी दशा में यह आवश्यक नहीं है कि 'गा' शब्द हम गो व्यक्ति का ही अर्थ समझें। इसका अर्थ निर्जीव पदार्थों के लिये भी हो सकता है क्योंकि वस्तुता यहाँ सन्त के अभाव में किसी भी शब्द से कोई भी अर्थ ग्रहण कर सकता है। ऐसी दशा में असन्तकृत गाय और असन्तकृत दूसरे पशु दोनो ही समान हो जायगे।

व्यक्ति में सन्त मान लेने पर शब्द का जो चतुर्विध विभाग किया गया है वह भी ठीक नहीं हो पाता है। उदाहरण के लिये "गो शुक्लो चलो डित्थ (डित्थ नामक शुक्ल गो चलती है) वाक्य में गो शुक्ल, चल और डित्थ इन चारों शब्दों का अर्थ व्यक्तिवाचक हो जायगा और डित्थ शब्द व्यक्तिवाचक है ही। इस दशा में इनमें कोई अन्तर रह ही नहीं जाता। यदि व्यक्ति में सन्त मान, तो उपयुक्त सभी शब्दों से गाय रूप व्यक्ति का बोध होगा अर्थात् सभी शब्द एक ही व्यक्ति के वाचक हो जान से एकार्थी हो जायगे, किन्तु यह असम्भव है। अतः मम्मट का यह मत है कि व्यक्ति में सन्त न मानकर व्यक्ति के उपाधिभूत जाति गुण क्रिया और यदृशारूप धर्मों में ही सन्त ग्रह मानना चाहिए।

उपाधि द्वारा शब्दों का चतुर्विध विभाग—आचार्य मम्मट ने जिस जात्यादिवादी मत का समर्थन किया है, जाति गुण, क्रिया और यदृशारूप वह मत वयाकरणों का है और महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी इसे स्पष्ट किया है।<sup>१</sup> इन्हीं वयाकरणों का अनुकरण जालकारिको ने किया है। महाभाष्यकार के अनुसार मम्मट ने उपाधियों का निम्नलिखित रूप में वर्णन किया है—

उपाधि दो प्रकार की होती है (१) वस्तु धर्म और (२) वस्तु यदृशा सन्निपेक्षित। इन दोनों में जातिगत गुण जो वस्तु में प्राप्त होते हैं उन्हें वस्तु

१ 'गो शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयो च शब्दानां प्रवृत्ति इति महाभाष्यकार । का० प्र० पृ० ४१

घम कहते हैं। और वक्ता की अपनी इच्छा से वस्तु में नाम गुण, रूप आदि का जो सन्निवेश होता है, उस वक्त यह्वासन्निवेशित कहते हैं। इसमें बालने वाला अपनी इच्छा के अनुसार किसी वस्तु का नाम रख लेता है और इस प्रकार उस शब्द से उस वस्तु विशेष का ही बाध होता है।

पदाय पाये जाने वाले गुण को वस्तु घम कहते हैं। आचार्यों ने इसके भी दो भेद किये हैं—(१) सिद्ध वस्तु घम (२) साध्य वस्तु घम। सिद्ध वस्तु घम पदाय में पहले से ही वतमान रहता है। उदाहरणार्थ 'सफे गौ' में शुक्लत्व और गात्व पहले से ही सिद्ध (वतमान) है। साध्य त्रिया रूप होता है। त्रिया इसमें वतमान काल में चलती रहती है अर्थात् उसकी साधना होती रहती है। अतः साध्यमान क्रिया रूप वस्तु घम को ही साध्य घम कहते हैं।

सिद्ध वस्तु घम—इसके भी दो भेद—प्राणप्रद घम और विशेषाधान घम होते हैं। इन दोनों में प्राणप्रद वस्तु घम 'जाति' की प्रतिष्ठा करता है अर्थात् उस कोटि के समस्त जीवों में इसकी स्थिति होने से यह 'प्राणप्रद' कहा जाता है। इसी को 'जाति' भी कहा जाता है। पदाय को प्राण देने वाला घम ही जाति है। इस विचार की पुष्टि आचार्य मम्मट ने भक्त हरि को उद्धृत करते हुए कहा है कि "गौ अपने स्वरूप के कारण गौ अथवा अ गौ नहीं कहलाती अपि तु वह तो जाति के सम्बन्ध के कारण ही गौ कही जाती है।" भाव यह है कि कोई भी गाय अपने आप ही गाय नहीं बन जाती और न गाय से भिन्न ही रहती है, अपि तु वह अपनी जाति के कारण ही गौ भिन्न पदाय से भिन्न है। गौ में जो गोत्व जाति है, उसी से तो हम गौ को पहचानते हैं, या गौ भिन्न पदाय को पहचानते हैं। इस प्रकार जिसमें गोत्व जाति पाया जाता है, उसे हम गौ कहेंगे और जिसमें यह गोत्व जानि नहीं पाया जाता वह गौ से भिन्न है। अतः कहा जा सकता है कि गात्व जाति से सम्बन्ध होने के कारण ही गौ का प्रयोग किया जाता है। यही जाति रूप शब्दाय 'प्राणप्रद' गुण कहा जाता है।<sup>१</sup>

इस विचार के विपरीत स्वरूप के आधार पर गाय' को 'गाय' कहना आरम्भ करें तो गौ शब्द का प्रयोग महिष, नील गाय आदि उसी प्रकार के अन्य पशुओं के लिये भी होना लगेगा परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः निश्चित है कि गोत्व-जाति से ही गौ का गौ होना निर्णीत है। उसे नील गाय अथवा अन्य

१ नहि गौ स्वरूपेण गौर्नाड्यगौ गोत्वामिसम्बन्धात्तु गौ—'वाक्यपदीय'

२ अपद्वय जातिरूप, शब्दाय—प्राणप्रदमुच्यते ।"

विषी पशु की सज्ञा नहीं द सरत है, क्योंकि नील गाय या अश्व-पशुओं में गोत्व-जाति का अभाव है। आश्वय जगन्नाथ का भी मत है कि गो में गोत्व की प्रतिष्ठा होने पर ही उसकी जाति सिद्ध होती है। इस जाति का सदान है "नित्यमनेव गतम् सामान्यम्।"

गुण की विशेषता—विशेषाधान हेतु गुण मूलक होते हैं। इस गुण के आधार पर व्यवहार में सत्ता प्राप्त वस्तु अपनी जाति की अश्व वस्तु से विभक्त होता है। हम उत्तम परस्पर भेद का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। गुण का स्वरूप निर्धारित करते हुए महाभाष्यकार ने कहा है कि जातियों तथा क्रियाओं में पृथक् रूप से पाया जाने वाला तथा असत्त्व की प्रकृति वाला गुण कहा जाता है।<sup>१</sup> इस प्रकार इस आधार पर गुण की कई विशेषताएँ हो जाती हैं —

(१) गुण की स्थिति सदैव वस्तु में रहती है।

(२) गुण वस्तु का परित्याग भी कर सकता है।

(३) उस वस्तु के अतिरिक्त वह अश्व जाति की वस्तुओं में भी पाया जाता है। वह चाहे जाति की विशेषताओं से विभूषित अथवा उत्पन्न हुई हो या न उत्पन्न हुई हो, इस बात से गुण में किसी प्रकार का कोई विभेद नहीं आता। यही पर जाति और गुण के भेद को समझ लेना भी समीचीन होगा।

जाति और गुण का भेद—(१) जाति से किसी भी पदार्थ में प्रण प्रतिष्ठा होती है जैसे गो से गो नामक प्राणी का जो बोध होता है, इसका कारण गोत्व जाति है और इसी जाति से हम प्राणघायक वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं इससे वस्तु में चतस्य की स्थिति का बोध होता है। इसके विपरीत गुण का कार्य व्यावहारिक होता है। प्राण प्राप्त वस्तु अपने गुण के कारण ही अपने में एक विशेषता उत्पन्न करके समान प्राणघायक वस्तुओं से विभक्त हो जाता है। एक ही जाति रूप चतस्य प्राणी में गुण के कारण ही वस्तु विशेष अपने वग से अलग प्रतीत होता है। जैसे सफेद गाय में शुक्लत्व गुण के कारण ही यह गाय अश्व गो यक्तियों से भिन्न दीख पड़ती है। इस प्रकार गुण से किसी वस्तु की आवहारिक सत्ता एवं उपयोगिता सिद्ध हो जाती है।

(२) जाति जिस वस्तु में रहती है वह उस वस्तु को कभी त्याग नहीं सकती है क्योंकि जाति के ही कारण वह वस्तु विशेष सज्ञा से अभिहित

१ सत्त्वे निवेशितेऽपि पृथक् जातिषु दृश्यते ।

आद्ये यद्व च क्रियायाद्व सोऽसत्त्व प्रकृतिगुण । महाभाष्य

होती है। जाति के द्वारा स्वरूप का निर्धारण होता है। इससे वस्तु में जाति का होना अनिवाय है। गुण के लिये ऐसी अनिवायता नहीं है। गुण वस्तु में रह भी सकता है और उसका परित्याग भी कर सकता है। ऐसा होना वस्तु की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ किसी रंग के मिट्टी के घड़े को यदि हम बहुत समय तक जल में रखें तो उसका रंग समाप्त हो जायगा। इसी प्रकार स्पष्ट है कि एक ही वस्तु की विपरीत परिस्थिति के कारण उसके गुण का नाश हो जाता है।

(३) कोई एक विशेष 'जाति' अथवा जातिधा में नहीं पायी जाती है अर्थात् गो में जो गोत्व जाति विग्रह है, वह महिषादि अथवा जातियों में नहीं पाई जा सकती हैं, वह उससे भिन्न होती है, परन्तु उसी गुण की स्थिति अथवा जातियों के पदाद्य में हो सकती है। जैसे शुक्लत्व गुण श्वेत, सुक्ति दुग्धादि भिन्न पदार्थों में पाई जाती है।

साध्य वस्तु घम (क्रिया रूप)—पूव और अपर में होने वाले सभी प्रकार के वाय व्यापारों को साध्य वस्तु घम कहा जाता है अर्थात् वस्तु वा जो गुण साध्यावस्था में है त्रियमाण गुण है उन्हे ही क्रिया कहा जाता है और यह क्रिया विभिन्न व्यापारों का समूह है। इनमें वाय सिद्धि के पूव के कुछ व्यापार होते हैं। इस प्रकार साध्य क्रिया के पूवापर व्यापारों के सघात को ही साध्य वस्तु घम कहा जायगा। उदाहरणार्थ—चावल पकाने की क्रिया में अग्नि जलाना बतन ठीक करना उसे चूल्हे पर रखना आदि पूव कालिक व्यापार बार-बार चलाना आदि वर्तमान कालिक और बतन को उतारना माड निकालना आदि बाद के व्यापार हैं। इन सबको अलग-अलग न कहकर 'चावल पकाना' के उपयोग से ही सबका बोध हो जाता है। इस सम्पूर्ण क्रियाओं में कुछ क्रियाएँ पूव की और कुछ बाद की हैं जिन्हें क्रम को दृष्टि से भविष्य की अथवा अतीत की क्रियाएँ कहेंगे। इन सभी को सघात रूप में साध्यमान क्रिया कहा जाता है। इ ही क्रियाओं को अरर और पूव की क्रिया कहते हैं। भत् हरि ने भी वाक्य पत्नीय में इसी विचार का समर्थन किया है कि 'जितने भी व्यापार सिद्ध हैं (अर्थात् अतीत काल के हैं) अथवा असिद्ध (भविष्य में होने वाले हैं) उन सभी को साध्य कहा जायगा। ये सभी व्यापार एक क्रम पर आश्रित होते हैं और इसी कारण इन्हें क्रिया कहा जाता है।'

१ यावत्सिद्ध मसिद्ध वा

आश्रित्यक्रमरूपत्वात्साक्रिये त्याभिधीयते । भत्हरि वाक्यपदीय ~

पारिभाषिक शब्दावली में इसी को साध्य की सहा दी गई है। डा० हरिश्चन्द्र ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'When all past or future operations are apprehended as in course of accomplishment in consequence of their extending over successive portions of time is said to be an action' (जब अतीत और भविष्य में होने वाले सभी कर्म स्तितो वस्तु की सम्प्रतिता में विभिन्न भागों के रूप में सहायक होते हैं तो उन्हें साध्य कहा जाता है।

शब्द यदृक्षासन्निवेशित उपाधि—अभी तक वस्तु धर्म के तीन स्वरूपों जाति, गुण और क्रिया की बनाया गया। अब यदृक्षात्मक शब्द का स्पष्टीकरण होगा। व्यक्तिपरक सभी सहाएँ व्यक्ति की इच्छा का ही परिणाम है। शब्द के दो रूपों का निर्धारण किया गया है। (१) अत्यबुद्धि निर्ग्रोह (२) सहस्र प्रथम। इसमें अत्यबुद्धि निर्ग्रोह वह होता है जिसमें शब्द के उच्चारण के बाद प्रत्येक वर्ण का ज्ञान स्पष्ट रूप से होता है जैसे द्रिष्य आदि शब्द में ड इ त् थ् अ वर्ण शक्ति इन्द्रियो से अभि यक्त होते हैं इनकी यह दशा स्फोट के पूर्व की है, तथा यह वर्ण प्रथम ध्रुव है। 'यावहारिक जीवन में वर्णों के इस स्वरूप से काय सिद्ध नहीं होता, क्योंकि शब्द के आशु विनाशी होने के कारण इसका स्वरूप न तो स्थिर रहता है और न हम शब्द ज्ञान के लिए इतने विलम्ब को ही सहन कर सकते हैं। अब शब्द का यह रूप सहस्र प्रथम में बदल जाता है।

सहस्र प्रथम—वर्णों के स्फोट के रूप में दीप रह जान वाले शब्दों के रूप को सहस्र प्रथम कहते हैं। इसे शब्द का सूक्ष्म अथवा काल्पनिक रूप भी माना जाता है। शब्द का यही व्यावहारिक रूप होता है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसे Ideal Form of Word माना है। 'द्रिष्य' शब्द स्फोट रूप ही है। यह रूप वयाकरणों के अनुसार कभी लुप्त न होने वाला और शाश्वत होता है। इसी शाश्वत रूप पर हम 'आशु विनाशी' द्रिष्यान्ति नस्वर रूप का आरोप कर लेते हैं। यही आरोप व्यक्तिपरक नाम होता है। इस प्रकार वर्णों का व्यवहार करने वाले लोगों के द्वारा अपनी इच्छा से उन उन व्यक्तियों में आरोपित किया गया धर्म ही वस्तु यदृक्षासन्निवेशित धर्म कहा जाता है। महा भाष्यकार ने इसी दृष्टि में शब्द के चार स्वरूपों का वर्णन जाति, गुण, क्रिया और यदृक्षा के रूप में किया है।

व्येपिक दान में गुण सम्बन्धी ज्ञान और उसका नियंत्रण—इसी प्रसंग पर मम्मट ने वशिक मतावलम्बियों द्वारा उठाये गये गुण सम्बन्धी एक शका का समाधान भी किया है। मम्मट के अनुसार वस्तु के प्राणप्रद

घम का नाम जाति और उसके विशेषाधान हेतु घम को गुण कहा है । वशेषिक दशन में गुणलादि रूप के समान परमाणु को भी गुण कहा जाता है और उनके द्वारा बताये गये चौबीस गुणों में 'परमाणु' की भी गणना हुई है ।

वशेषिक दशन के अनुसार परमाणु के चार भेद हैं । अणु, महत्, लीप और ह्रस्व । ये नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार के होते हैं । नित्य परमाणु की स्थिति परम महत् परमाणु में रहती है और इस आधार पर परमाणु को गुण कहा गया है । इसके विपरीत मम्मट ने इस मत का खण्डन करते हुए परमाणु को गुण न मान कर इसका समावेश जाति में किया है । 'यह परम-अणु परमाणु परमाणु रूप सूक्ष्मतम पदाय का प्राणप्रद घम है, विशेषाधान हेतु नहीं' । इसलिए आपकी परिभाषा के अनुसार परम अणु-परमाणु के वाच्य परमाणु परमाणु शब्द का जाति शब्द मानना चाहिए, परन्तु वशेषिक दशन में उसका पाठ गुणा में दिया गया है इसका क्या कारण है ?

इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार मम्मट ने यह लिया है कि परम-अणु परमाणु वस्तुतः जातिवाच्य शब्द ही है, परन्तु वशेषिक दशन में उनका पारिभाषिक गुणत्व है । 'परमण्वादीनां तु गुणमप्य पाठान् पारिभाषिक गुणत्वम्' ।

आचार्य मम्मट का मत— मम्मट के अनुसार परमाणु गुण के अतगत न आकर जाति के अतगत माना जायगा । वाक्यपनीय में कहा गया है कि गौ स्वरूप के कारण गौ नहीं है अपितु गोस्व जाति के कारण गौ है । इसी प्रकार कहा जा सकता है कि 'नहि स्वरूपेण परमाणु नाप्यपरमाणु परमाणु त्वादभिसम्ब धात्तु परमाणु ।' इसके अतिरिक्त महाभाष्य में गुण की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि "जो वस्तु में रह कर भी वस्तु का त्याग कर सकता है, वह गुण है," किन्तु परमाणु के सम्बन्ध में यह बात नहीं है, क्योंकि परमाणुत्व परमाणु का त्याग नहीं कर सकता है । अतः परमाणु जाति है, गुण नहीं ।

वशेषिक दशन द्वारा इस मत का खण्डन— यह दशन परमाणु को 'जाति नहीं मानता । इसके अनुसार 'जाति' नित्य है तथा अनेक में समान रूप से पाई जाती है 'नित्यत्वे सति अनेकगतम्' इस दशन में 'जाति' के 'पर' और 'अपर' दो भेद किये गये हैं । इसको स्मरण करने के लिए 'ब्राह्मणो



देयत्त' का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें जाति के दो पक्ष 'मनुष्यत्व' और ब्राह्मणत्व' बताये गये हैं। इनमें मनुष्यत्व 'पर सामान्य' और ब्राह्मणत्व 'अपर सामान्य' है। जहाँ 'पर' और 'अपर' का भेद स्पष्ट नहीं होता वहाँ 'सर्व' कहा जाता है। इसे उदयन ने जाति' की छ दूधिन अवस्थाओं में एक माना है।<sup>१</sup> न्यायिकों के अनुसार भी परमाणु में जाति व 'पर' और 'अपर' भेद नहीं होने। उदाहरण के लिये पार्थिव परमाणु में उसे जाति मानने पर पृथिवीत्व और परमाणुत्व दो सामान्य होने चाहिए। साथ ही सर्व से परे रहने के लिये एक को 'पर' और दूसरे को 'अपर' मानना आवश्यक होगा। यह वाय दो रूपों में हो सकता है—

(१) परमाणु को 'पर' और पृथिवीत्व को 'अपर' माना जाए।

(२) पृथिवीत्व को 'पर' और परमाणु को 'अपर' माना जाय।

इन दोनों में पहली दशा मानने पर दो प्रकार के दोषों का उद्भव होता है।

(i) यदि परमाणु को 'पर' मानते हैं तो इस स्थिति में परमाणु का विस्तार पृथिवीत्व तक ही होगा, जो असम्भव है। इससे परमाणु की सीमा कम हो जाती है क्योंकि नियम के अनुसार परमाणु की सीमा पृथिवीत्व तक ही नहीं मानी जा सकती है।

(ii) यदि परमाणु की सीमा पृथिवीत्व तक मान लें तो परमाणु का विस्तार पृथ्वी द्वारा निर्मित घड़े में परमाणु जाति माननी पड़ेगी, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से घड़े में परमाणु जाति का निषेध मानना पड़ता है। कारण यह है कि घड़े के परमाणु जाति का होने से उसका अदृश्य होना आवश्यक हो जाता है, परन्तु वह अदृश्य नहीं है। अतः परमाणु को जाति नहीं माना जा सकता है।

इसके विपरीत यदि पृथिवीत्व को 'पर' और परमाणु को 'अपर' माना जाय तो यह भी उचित नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ऐसी दशा में (क) पृथिवीत्व की परिध्याप्ति परमाणुत्व में होगी और (ख) परमाणुत्व में पृथिवीत्व की परिध्याप्ति मानने से आकाश वायु आदि में भी पृथिवीत्व मानना पड़ेगा, परन्तु ऐसा सम्भव न होने से परमाणु को किसी भी दशा में 'जाति' नहीं माना जा सकता है। यही वैशेषिक दशन का सिद्धांत है।

१ व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सर्वोप्यनवस्थिति ।

रूप हानि रसवर्धो जाति बाधः सप्रह । उदयन ।

मम्मट द्वारा इस मते का निराकरण—मम्मट ने इस विचार का खण्डन करते हुए कहा है कि (१) जाति के पर और अपर भेद को स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि जिस प्रकार पर और अपर से सम्बन्धित दो जातियाँ एक वस्तु में रह सकती हैं उसी प्रकार पर और अपर से असम्बद्ध दो जातियों की एक ही वस्तु में अवस्थिति भी सम्भव है। केवल दो विरोधी जातियाँ एक साथ एक ही वस्तु में नहीं रह सकती हैं जमे मनुष्यत्व जाति के संग सिंहत्व जाति का एक ही आशय सम्भव नहीं है।

(११) महाभाष्यकार ने परमाणु की परिभाषा में इसे गुण न मानकर जाति को ही माना है। अतः विणय दत्त हुए मम्मट ने कहा है कि विशेषिक दशन में परमाणु का केवल पारिभाषिक 'गुणत्व' ही स्वीकार किया जा सकता है वास्तविक गुणत्व नहीं। अर्थात् जस 'गुण' और 'वद्धि' शब्द का सामान्य अर्थ दूसरा होता है तथा व्याकरणों का पारिभाषिक अर्थ इससे बिल्कुल विपरीत होता है उसी प्रकार परमाणु का पारिभाषिक अर्थ इससे बिल्कुल विपरीत होता है उसी प्रकार परमाणु का पारिभाषिक 'गुणत्व' ही स्वीकार किया जा सकता है, वास्तविक नहीं। वास्तव में तो इसे जाति ही कहेंगे गुण नहीं।

गुण त्रिया यदृक्षा में सकेतग्रह की गता और नियारण—यही पर पूर्वपक्षी व एक और गता को उपस्थित करते हुए मम्मट ने उसका निराकरण किया है। पूर्वपक्षियों के कथन के अनुसार गुण त्रिया और यदृक्षा में सकेत का ग्रहण करना ठीक नहीं होगा क्योंकि गुणात् "यत्तियो के समान अनन्त होते हैं तथा गुणों की स्थिति कभी किसी विशेष परिस्थिति में एक वस्तु में रहती है और दूसरी परिस्थिति में उषी वस्तु में नहीं भी रहती है। अतः सभी व्यक्ति परक गुणलादि गुणों में सकेत ग्रहण करने से पूर्व कथित 'आनन्द्य' और व्यभिचार नामक दोष उत्पन्न हो जायगा।

समाधान—मम्मट ने इसका समाधान अच्छी प्रकार किया है इनके विचार से गुण आदि में जा अन तटा दीव पडती है, वह वास्तविक न होकर प्रातिभाषिक मात्र होती है। जिस प्रकार एक ही मुख को जल, तल, मुकुर खडग आदि में हम विभिन्न रूप में देखते हैं अर्थात् कभी वह समतल कभी उठा हुआ कभी नत दिखाई पडता है उसी प्रकार गुण, त्रिया यदृक्षा की भी स्थिति समझनी चाहिये अर्थात् आशयभेदसे जैसे मुख विभिन्न रूप में प्रतिभाषित होता है, उसी प्रकार आशय भेद से गुण, त्रिया, यदृक्षा आदि अलग-अलग प्रतिभाषित

हाते हैं।<sup>१</sup> उदाहरण के लिये राग, मुक्ति रजत आदि में गुणल गुण की जो अलग अलग रासा दीक्ष पडती है, वह वास्तविक न होकर इन भिन्न भिन्न वस्तुओं के आश्रय से ही भिन्न भिन्न रूप में दिखाई पडती हैं। वास्तव में तो 'गुणलव सामान्य' गुण की प्रतिष्ठा एक ही रूप में सभी पदार्थों में रहती है। अतः तात्त्विक दृष्टि से गुण, त्रिया यदृशा में आनन्द और व्यभिचार दाप नहीं माना जा सकता है क्योंकि प्रतिभाषिको सत्ता वास्तविक सत्ता कभी नहीं हो सकती है। अतः इन दोषों का समापन गही माना जा सकता है तथा गुण, त्रिया और यदृशा में सकेत ग्रह मानना उचित है।

मीमांसकों का जातिरेय वा' का स्पष्टीकरण—वयाकरणों और आल कारिकों में 'सकृत्तितश्चतुर्भेदों' अथात् सकेतित अथ चार प्रकार का जाति, गुण, त्रिया और यदृशा रूप माना है जिसका प्रतिपादन ऊपर किया गया है, परन्तु मीमांसकों की दृष्टि में सकेतित अथ कवल 'जातिरूप' ही माना जाता है। इस प्रकार 'ग' की चतुर्विध प्रवृत्ति को न मानकर इ'होने केवल जातिगत प्रवृत्ति का ही माना है। इसी से इन मीमांसकों ने गुण, त्रिया और यदृशा की जाति रूपता का समर्थन किया है। मीमांसकों की इस विचारधारा को मानने वालों के चार घण किय जा सकते हैं—

- १ भाह मीमांसक
- २ श्रीकर का मत
- ३ मण्डन मिथ का मत
- ४ प्रभाकर का मत

(१) इनमें भाह मीमांसकों के अनुसार अभिधा द्वारा 'जाति' में सकेत-ग्रह हाता है। 'पदों से जाति का ही सकेत हो सकता है व्यक्ति का नहीं।'<sup>२</sup> इनके अनुसार व्यक्तित का जान आक्षेप से होता है। और यह आक्षेप जाति द्वारा ही सम्भव है। आक्षेप से इ'होने अनुमान अथवा अर्थापत्ति का अर्थ ग्रहण किया है। पावसारथि मिथ ने भी इसका समर्थन किया है कि 'ग' में सब प्रथम जाति की ही प्रतीति होती है उससे बाद वह किसी पक्ति गिणप का

१ गुणत्रियायदृच्छानी वस्तुत एक रूपानामप्याश्रयभेदाद्भेदन नदयते यदकस्य मुखस्य सडगमुकुरतनाद्याम्भवनभेदात् । का ० दूसरा उल्लास—वृत्ति भाग ।

२ मीमांसकास्तु गवात्प्रदाना जातिरेय वाच्य, न तु यद्वित । 'सकृत्तितवाद' ।

आरोप कर लेती है।”<sup>१</sup> अर्थात् शब्द से पहले जाति का बोध होता है और बाद में जाति ही व्यक्ति का बोध करा देती है।

(२) श्रीवर के मत से भी पदों से जाति का ही बोध होता है और हम व्यक्ति का बोध उपादान से करते हैं। अर्थात् जब आशिक अर्थ बोध से हम पूरे अर्थ का बोध कर लेते हैं तो वहाँ उपादान कहा जायगा। इसी से उपादान लक्षणा प्रस्तुत किया जाता है, जैसे—‘गो (गोत्व जाति विशिष्ट) जाता है’—का अर्थ गो जाति रूप व्यक्ति विशेष जाता है—होगा, इस प्रकार उपादान भी अर्थात् पति का ही दूसरा रूप है।

(३) मदन मिश्र ने पर से पहले जाति का बोध और बाद में व्यक्ति का बोध माना है। इस व्यक्ति बोध में उपादान लक्षणा काय करती है। अर्थात् पद से पहले जाति का बोध और बाद में व्यक्ति से व्यक्ति का बोध हो जाता है क्योंकि व्यक्ति ही प्रवृत्तिनिवृत्ति योग्य होता है, जानि नहीं क्योंकि जब हम गो का प्रयोग करते हैं तो निरर्थक होने से जाति की सत्ता का ज्ञान यहाँ न होकर जातिगत सत्ता से व्यक्ति का ही बोध माना जाता है। इसके समय में कहा गया है कि वेद के विधि वाक्यों का व्यवहार में यदि जातिगत अर्थ लिया जाय तो वह उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है उदाहरण स्वल्प उपादाने ‘गोरनुवच्य’ गा’ का मारना चाटिय वाक्य को प्रस्तुत किया है, यहाँ गो का शाब्दिक सक्त गात्व जाति है, परन्तु गात्व जाति का मारा जाना सम्भव नहीं है क्योंकि जाति एक सूक्ष्म भाव का चार्तक है। और वेद का आदेश ज्ञान से इस वाक्य को असत्य नहीं कहेंगे। अतः जाति में लक्षणा के द्वारा व्यक्ति का आशेष कर लिया जाता है। अतः पद के द्वारा व्यक्ति का अभिधा बोधन कभी नहीं हो सकता है। क्योंकि जाति रूप विशेषण का बोध करा देने के उपरान्त शक्ति के क्षीण हो जाने पर अभिधा विशेष्य रूप व्यक्ति तक नहीं जा सकती है। अतः ‘गोरनुवच्य’ का अर्थ गायपन ‘गोत्व’ का बोध करो और बाद में उपादान लक्षणा से इसका यह अर्थ होगा कि ‘गोत्व विशिष्ट (गो जाति युक्त) गो-व्यक्ति का बोध करो।’

मम्मट ने खट्टन करत हुय इस विचार पर अपनी असहमति प्रकट की है। इसमें लक्षणा मानना उचित नहीं है, क्योंकि लक्षणा में सदैव रूढ़ि या

१ व्यक्तिप्रतीतिरस्माक जातिरेव तु शब्दतः ।

प्रथमावगता पदचाद् व्यक्ति या वाचिदाक्षिणेतु । चापररत्नमाला वाक्य निणय का० ५-३८

प्रयोजन में से अन्तर का होना आवश्यक है। इसमें कोई भी नहीं है। अतः यहाँ उपादान लक्षणा से व्यक्ति का ग्रहण न होकर जाति के संग व्यक्ति के अविनाभाव सम्बन्ध से ही जाति से व्यक्ति का ग्रहण होता है। जस 'इस काय को करो इसमें त्रिया के लिये तुम' कर्ता का अविनाभाव सं बोध हो जाता है। उसी प्रकार गोत्व से गो व्यक्ति का बोध भी अविनाभाव द्वारा ही होगा। यही मम्मट ने बताया है और उपादानवाद का खण्डन किया है।

(४) प्रभाकर ने पद से जाति का नाम तथा इस ज्ञान के साथ ही स्मरण द्वारा व्यक्ति का बोध माना है। पद द्वारा जाति का निर्विकल्पक ज्ञान होता है और उसके साथ ही स्मरण द्वारा पद के श्रवण से व्यक्ति के सम्बन्ध ज्ञान का स्मरण हो जाता है। अर्थात् जाति का विशिष्ट ज्ञान के कारण ही व्यक्ति की स्मृति विना सम्बन्ध ज्ञान के भी आसानी से हो जाती है।

सक्षेप से मीमांसकों के चार मतों की चर्चा की गई। इनमें सभी पद से जाति का ही बोध मानते हैं। हाँ व्यक्ति बोध किस प्रकार होता है, इस सम्बन्ध में उनमें अवश्य ही कुछ मत भिन्न है। भाहू मीमांसकों ने व्यक्ति का बोध आक्षेप से श्रुति से उपादान से, मडन मिश्र ने लक्षणा से, और प्रभाकर भट्ट ने स्मरण द्वारा माना है। अतः व्यक्ति बोध के आधार के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी सभी मीमांसक इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि पद से जाति का ही बोध होता है अतः आवश्यक हो जाता है कि ध्यायक न शब्द की जो चार प्रवृत्ति जाति गुण, त्रिया यहथा माना है उन सबका एक ही मत अर्थात् जाति में ही समावेश कर दिया जाय। इसी से अत्र गुण, त्रिया और यहथा की जातिरूपता का समर्थन मीमांसकों के अनुसार किया जायगा।

**मीमांसक मत—जातिरेव का समर्थन—**

गुण की जातिरूपता—मीमांसकों ने कथल जाति में ही सवेतग्रह माना है इसके अनुसार जाति गुणों के समान ही गुण त्रिया और यहथात्मक गुणों के भी जाति में ही सवेतग्रह मानना चाहिये। जाति का ही अर्थ नाम 'सामाय' है। सामाय का लक्षण करते हुये कहा गया है कि अनुगत प्रतीति का हेतु सामाय' कहा जाता है। 'अनुवन्निप्रययहनु सामायम्।' जस दश घट ध्यस्तियो म घट' की जो अनुवृत्ति होती है उसका कारण घटत्वं सामाय ही है, इसी प्रकार यदि शुक्ल गुण विभिन्न स्थानों पर है तो मा 'शुक्लत्व' रूप सभी स्थानों पर सामाय ही होगा। अनुभव द्वारा यह सिद्ध है कि विभिन्न पदार्थों में रहने वाला जो 'शुक्ल' गुण है उसकी प्रतीति में स्पष्ट अन्तर

रहता है, फिर भी उन पदार्थों को देखकर हम 'शुक्ल' शब्द का ही प्रयोग करते हैं इसका कारण यह है कि विभिन्न पदार्थों में रहने वाले शुक्ल गुण को हम इसी कारण शुक्ल कहते हैं कि उसमें 'शुक्लत्व सामान्य' रहता है। जिसके कारण हम उसे पहचान लेते हैं। यह सामान्य नित्य और अनेक में समवतघम होता है। "नित्यत्वे सत्यनेक समवेतत्व सामान्यम्"। अतः विभिन्न वस्तुओं में अवस्थित शुक्लत्व को जो भिन्न भिन्न है, उसे सामान्य माना जा सकता है। अर्थात् शुक्लत्व के भिन्न रूप होने पर भी जो हम विभिन्न वस्तुओं को देखकर 'शुक्ल शुक्ल' इस प्रकार का बयन करते हैं, उनका एकाग्र कारण यही शुक्लत्व सामान्य अथवा जाति है। इस प्रकार गुण में जातिरूपता का प्रतिपादन किया गया। उदाहरण के लिये बर्फ, दुग्ध, शल आदि में रहने वाले शुक्ल गुण देखने से स्पष्ट रूप में भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं। फिर भी इन विभिन्न पदार्थों का देखकर शुक्ल शुक्ल इस प्रकार एकाग्र बयन होता है और उनकी प्रतीति भी शुक्लत्व रूप में ही होती है।<sup>१</sup> इस एकाग्र बयन एवं प्रतीति का कारण 'शुक्लत्व सामान्य' ही माना जाता है। अतः स्पष्ट है कि गुणों में भी एक जातिरूप अथवा सामान्य अनुगत प्रतीति होती है और उसे ही 'जाति' कहते हैं और गुणों की इस जाति में ही सक्त का ग्रहण होता है। कहने का भाव यह है कि हिम, पय, और शल की स्वतिमा में प्रत्यक्ष रूप से भेद प्रतीत होता है किन्तु इन सभी पदार्थों में धवलता (सफेदी) नामक तत्त्व समान दिखाई पड़ता है। इन पदार्थों का देखकर धवलता के अतिरिक्त अन्य गुण की चर्चा कोई भी उनके सम्बन्ध में नहीं कर पाता है। अनेक पदार्थों में समान रूप से प्राप्त होने के कारण यह धवलता भां गुण न रह कर जाति ही हो जाता है और जब गुण भी जाति के लक्षणों से मुक्त हो जाता है तो उसे 'जाति मानना ही पड़ेगा, इस प्रकार गुणों की जातिरूपता का प्रतिपादन किया गया।

क्रिया की जातिरूपता—भीमासक क्रिया को भी जातिरूप ही मानते हैं। क्योंकि सभी क्रियाओं में एक जातिरूपता पायी जाती है, उदाहरणस्वरूप गूढ पकाना, सण्डुन पकाना आदि क्रियाएँ विभिन्न हैं, परन्तु उन सबकी विभिन्नता में भी पकाना रूप क्रिया समान रूप से विद्यमान है साथ ही अनेक भी है अतः इस अनेकत्व एवं समानरूप के कारण यहाँ पकाना क्रिया भी

१ हिमपयशह्लाद्याययपु परमायतो भिन्नैषु शुक्लादिषु, यद्वनेन, शुक्ल शुक्ल इत्याद्यभिन्नाभिवाप्रत्ययोत्पत्तितच्छुक्लत्वादि सामान्यम्।  
वा० प्र० दूसरा उल्लास

'जाति ही कही जायगी ।' इस प्रकार पकाना क्रिया सत्रम समान रूप होने से क्रिया की जातिरूपता की भी सिद्धि हो जाती है ।

यदृशा शब्दों में जाति का प्रतिपादन— शब्द-यदृशा शब्द में जाति का प्रतिपादन करने में कुछ कठिनाई हो सकती है, क्योंकि यह व्यक्ति विशेष का वाचक शब्द होता है, व्यक्तियों का वाचक नहीं । जाति के स्वरूप को बताते हुये कहा गया था कि 'अनेक' में समवेत धर्म अर्थात् अनेक व्यक्तियों में रहने वाले धर्म को ही जाति कहेंगे, परन्तु यदृशा में 'अनेक'-समवेतत्व नहीं है अतः इसमें जातिरूपता कैसे सिद्ध की जा सकती है ।

समाधान— इस शब्द का समाधान भी मीमांसकों ने करते हुए कहा है कि यदृशा के परिणामस्वरूप मनाएँ जाति हैं । मीमांसकों ने (1) उच्चारण करने वाले व्यक्तियों के भेद से यदृशात्मक शब्दों में भी भेद माना है । (2) जिस व्यक्ति का उच्चारण किया जाता है वह व्यक्ति भी प्रतिक्षण परिवर्तनशील है क्योंकि वह सदैव बालक, युवा वृद्ध आदि रूपों में परिवर्तित होता रहता है । कहा भी गया है कि 'एव चेतनसत्ता को छोड़कर सारा पदार्थ परिवर्तनशील है ।' इसी प्रकार एक बालक जब बाल्यवस्था का उच्चारण करता है, अथवा वृद्ध या शिशु आदि द्वारा उच्चरित प्रतिक्षण भिद्यमान विलक्षण उच्चारण में जब हम एव ही विलक्षण का बोध करते हैं तो इसका कारण 'विलक्षणत्व' सामान्य है अर्थात् बालक वृद्ध, शिशु आदि द्वारा उच्चरित विलक्षण में भेद होता हुआ भी तथा बालक युवा और वृद्ध विलक्षण में भेद होने पर भी सर्व उच्चारण में विलक्षणत्व समान रूप से वर्तमान रहता है ।<sup>१</sup> अतः विलक्षणत्व की जातिरूपता सिद्ध हो जाती है और इस प्रकार मीमांसकों के अनुसार शब्दों के चार प्रकार (जाति, गुण क्रिया और यदृशा) में होकर बस 'जातिरूप' एक ही प्रकार होगा । इस प्रकार यहाँ तक मम्मट की कारिका 'सकेतित्वमुभेदो जात्यादि जातिरव वा' की याख्या की गयी । मम्मट द्वारा इस मत का खंडन-मीमांसकों के केवल 'जाति' में सकेत मानने वाले इस मत का समर्थन मम्मट ने नहीं किया है । इसी से इस मत का खण्डन मम्मट ने किया है ।

१ गुडतण्डुलादिपाकादिवेबमेव पाकत्वानि (सामान्य) । का प्र० दूसरा उ० ।

२ बालवृद्धशिशुवाद्युदीरितेषु विलक्षादिशब्देषु च प्रतिक्षण भिद्यमानेषु विलक्षाद्यर्थेषु वा विलक्षणत्वाद्यस्तीति मर्थेपा शब्दानां जातिरव प्रवृत्ति निमित्तमित्यर्थः । का प्र० उ० २, पृ० ४८

(१) जात्यादिवादी होने के कारण मम्मट न भीमासक्तों के 'जातिवादी' मत का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षियों की कई शत्राओं का खण्डन किया है। सब प्रथम भीमासक्तों के द्वारा उठाये गये जाति, गुण, त्रिया, यदृक्षा म आगत्य और व्यभिचार दोषों का परिभाजन किया गया है।

### गुण की जातिवादिता का खण्डन

(२) भीमासक्तों द्वारा दी गयी 'जाति' की परिभाषा पर भी आपत्ति उठाई गयी है। भीमासक्तों के अनुसार 'भिन्नोपु अभिप्रायिघातप्रत्यय हेतु जाति' अर्थात् जाति वह विशेषता है जिसके द्वारा हम एक वस्तुओं में एक तत्व का प्रत्यय अथवा विन्यास और एक अभिप्राय या आभास होता है। मम्मट न कहता है कि ये परिभाषा वचन आश्रय पर लागू होती है, आश्रितों पर नहीं। गुण त्रियादि व आश्रय सदैव दृश्य होते हैं अतः जाति वचन द्रव्य में रहती है। जहाँ पर भिन्न भिन्न द्रव्यों में संस्थान अवस्थान परिमाण और वण गत भेद होगा, मूल दृश्यगत नहीं बल्कि पर के एक जाति व ही कह जायगे। किन्तु जहाँ मूल द्रव्यगत भेद होगा उह हम एक जाति का नहीं मानेंगे उदाहरण के लिये गा का आकार परिमाण और वण का भेद होत हुए मूल द्रव्य गोत्व के कारण वह जाति कहा जायेगा, किन्तु गुणत्व या पाकत्व आदि जिन भेदों की चर्चा भीमासक्तों के उपयुक्त मत में किया गया है व सत्य नहीं है। भाव यह है कि पहल दिय गये हिम, पय, गल आदि व उदाहरणों में संस्थान Arrangement of their parts अवस्था Position, परिमाण Size और वण Colour में भेद व साथ ही साथ उन मूल द्रव्यों में भी भिन्नता रहती है। अतः इन सबको हम एक जाति का नहीं कह सकते हैं। फल यह निकलता कि हिम पय और शलक समान द्रव्य न होने में तथा उनमें मूल में भिन्नता होने के कारण उनमें वर्तमान घबलता को हम 'जाति' नहीं मान सकते हैं।

क्रिया की जातिरूपता का खण्डन—इसी प्रकार पाक क्रियाओं में भी 'पाकत्व क्रिया' को जाति नहीं कहा जा सकता है। सभी में पाक क्रिया समान है परन्तु पकाये जाने वाले गुड, तण्डुल, मासादि द्रव्यों में भिन्नता है। अतः इस भी जाति नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार डिस्थादि का उच्चारण करने वाले चाहे भिन्न हों पर डिस्थ तो एक ही रहता है अतः डिस्थत्व को भी जाति नहीं माना जा सकता है। इस आधार पर भीमासक्तों द्वारा मान्य यह मत कि गुण, त्रिया और यदृक्षा जाति रूप हैं खण्डित हो जाता है और जात्यादि शब्द के चार रूपों की स्थापना हो जाती है।



गो न्यायिकमत जातिविशिष्ट व्यक्ति भं सकेत—न्यायिकों के अनुसार सकेत न तो जाति में होगा है और न व्यक्ति में, यदि तु जाति विशिष्ट व्यक्ति में सकेत माना जा सकता है। जाति में प्रवृत्ति नियुक्ति की योग्यता न होने से जीवों में इसका प्रयोग उपयोग नहीं होगा। यथा यदि कोई बल पीना चाहे तो घटरस से बल नहीं पी सकता है। अतः जाति में अथ क्रियाकारित्व का अभाव होने से केवल जाति में ही सकेत ग्रहण नहीं कर सकते। यदि इससे विपरीत केवल व्यक्ति में ही सकेत माने तो आन्त्य और व्यक्तिधार तथा विषय विभाग दोष उत्पन्न हो जायेगा। अतः जातिविशिष्ट व्यक्ति में ही सकेत ग्रहण मानना चाहिये।

गोतम मुनि ने इसी मत का समर्थन इस श्लोकों में किया है कि पद का अर्थ किसी वस्तु की जाति व्यक्ति और भावति न सम्मिलित तत्त्व में है।<sup>१</sup> अर्थात् व्यक्ति और जाति न सम्मिलित तत्त्व में ही सकेत हो सकता है। यदि केवल जाति में ही सकेत माने, तो व्यक्ति का मान माना सम्भव नहीं हो सकता है। अतः अथ का ज्ञान करने समय जाति से व्यक्ति का भी ग्रहण हो जाता है। क्योंकि जब भी हम किसी पद का प्रयोग करते हैं तो हमारा मूल उद्देश्य किसी व्यक्ति विशेष से ही रहता है। यह बात दूसरी है कि उस व्यक्ति में जाति अवश्य रहती है। उदाहरण के लिए भीमासुरी न अनुसार गाय जाति है वाक्य में गाय का अर्थ गोश्व है जो जातिवाचक है। और जाति न सूक्ष्म भाव होने से उसमें गाय शब्द का अर्थ घटित नहीं हो पाता है अतः न्यायिकों के अनुसार यह अर्थ होगा कि “गाय जाति युक्त गो व्यक्ति विशेष जाता है।” इसमें व्यक्ति में शब्द का घटित होना भी सम्भव है तथा इसमें जातित्व का भी योग रहता है। अतः जातिविशिष्ट व्यक्ति में ही सकेत का ग्रहण मानना चाहिये यही न्यायिकों के मत का सारांश है। इसी मत का सकेत मम्मट ने ‘तद्वार्त्त’ द्वारा किया है।

(घ) बौद्धों का अपोहवाद—इस मत के लोगो ने बताया है कि व्यक्ति में आन्त्य और व्यवहार दोष के कारण सकेतग्रहण नहीं हो सकता है और जाति में भी सम्भव नहीं है क्योंकि बौद्धों ने ‘सर्व क्षणिक’ के सिद्धान्त को माना है अतः जाति की भाव पदार्थ मानने से वह क्षणिक होता है और यदि अभाव पदार्थ मानते हैं तो सकेत का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है, इस प्रकार बौद्धों द्वारा उच्चरित घट पद का इतना ही अर्थ होगा कि यहाँ एक क्षणिक

१ व्यक्त्यावृत्तिजातयस्तु पदार्थ । श्यामसूत्र गोतम ।

पदाय है तथा यह घट के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों से भिन्न है। यही बौद्धों का अपोह या 'अतद्द्वयावत्ति' कहा गया है। अर्थात् अन्य पदार्थों के निराकरण से बचे हुए पदाय में ही शब्द का सकेत ग्रहण हो सकता है। इसी का सकेत मम्मट ने 'अपोहो वा शब्दाथ कश्चिदुक्त इति के द्वारा किया है।

मम्मट ने व्याकरणों के विराधी सभी सकेतग्रह विषयक मतों का स्रण्डम करके अपने जाति, गुण, क्रिया और यद्धारमक चार प्रकार के शब्दों की प्रतीति का का समर्थन किया है और इन्हीं चारों की उपाधियों में सकेत ग्रह माना है इसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यहाँ पर सकेतग्रह के साधनों पर विचार किया जायगा।

शक्तिग्रह के साधन—सिद्धा त मुक्तावली म सकेतग्रहों के आठ साधनों के सम्बन्ध में चर्चा की गयी है। ये साधन व्याकरण, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष विवक्ति सिद्ध पद का सानिध्य और उपमान है।<sup>१</sup> इनमें से किसी भी एक साधन स शक्ति का ग्रहण हो सकता है।

व्याकरण—किसी भी वाक्य म जब पत् का प्रयोग होता है तो उस पद के सुप्, तिङ् प्रत्यय प्रवृत्ति आदि व्याकरणिक सम्बन्ध का ज्ञान व्याकरण के द्वारा ही होना है। जैसे कहा जाय कि 'वतमाने लट्' तो यहाँ वतमान म लट् का प्रयोग शक्तिग्राहक हो होगा।

उपमान—किसी न गाय को दखा हा पर नील गाय न दखा हो तो उपमान के आधार पर समझाया जा सकता है नि गोसदृश गवय अर्थात् गो के समान ही गवय होता है अतः यहा उपमान म ही शक्ति का ग्रहण होता है।

कोश—पद का विभिन्न अर्थ म प्रयाग कोश देखकर भी निश्चित किया जा सकता है।

आप्तवाक्य—आप्त लागे के वचन से भी हम सकेत का ग्रहण कर लेते हैं। पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान भी आप्तवाचन से ही होता है। साथ ही किसी के लिये यदि कोई वद्ध कोई विशेष नाम दे देता है, तो इसका प्रचार भी आप्तवाक्य होने से ही होता है और उस लब्ध से किसी विनेय के ही सकेत का ग्रहण हो पाता है।

१ शक्तिग्रह व्याकरणोपमान कोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।

वाक्यस्य शेषाद् विवनेवदति सानिध्यते सिद्धपदस्य सिद्धा ॥

वाच्य गेय—जहाँ किसी दूसरे वाच्य से एक वाच्य के अर्थ का ग्रहण हो अर्थात् यदि दो या अधिक वाच्य एक साथ प्रयुक्त हुए हों और उनमें से किसी पद का अर्थ अर्थ होता है, तो ऐसी दशा में दूसरे वाच्य से उस पद का स्रोतग्रहण सम्भव है अनुसृत उचित रूप से हो जाता है ।

विवक्ति—जहाँ सकेतग्रह के लिये व्याख्या करना ही आवश्यकता पड़ती हो और इस प्रकार अर्थ समझ में आ जाता है ।

सिद्ध पद का सान्निध्य—जहाँ एक पद की सिद्धि दूसरे उगम सप्तम से दूसरे पद के अर्थ का ग्रहण हो जाय । जहाँ 'यस्य ते गिव कूजति' में पित्र सप्तम का अर्थ कोपल हो होगा, क्योंकि सिद्ध पद 'सप्तम' के सप्तम से इसका यही अर्थ ग्रहण होगा, अथवा अर्थ नहीं ।

व्यवहार—साकेतग्रहण का साधन में व्यवहार बहुत अधिक महत्व रखता है । प्रभावकर सीमागर्भों में इसी व्यवहार का आधार पर अपने अर्थताभिधान का अर्थ का मण्डन किया है । इनके अनुसार व्यवहार की यह श्रिया बालकों द्वारा पदों से अर्थ ज्ञान की प्रक्रिया में आसानी से देखी जा सकती है । कोई बालक द्वारा कहे गये वाच्य के अर्थ की समझकर अपने बड़े भाई को गाय आदि पशुओं को दखना है और उतार उतार व्यवहार की दृश्यकर उस वाच्य का अर्थ समझ लिया करता है । इसमें प्रत्यक्ष अनुमान और अर्थविवक्ति ये तीन प्रमाण कार्य करते हैं । यही बातों द्वारा सकेत ग्रहण का साधन है और इस 'व्यवहार' की सहायता दी गई है ।

## लक्षणा विचार

लक्षणा स्वरूप—दैनिक जीवन में तथा साहित्य में भी हम ऐसे वृत्त से शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका मुरयाध ठीक नहीं बठ पाता है अर्थात् शब्दों के सग उसके प्रचलित अथ की सगति नही बठ पाती है। वह साक्षात् सवैतिक अथ से असम्बद्ध प्रतीत होता है और उसका सीधा बोल चाल या लोक में प्रचलित अथ का ग्रहण नही हो पाता है। अत इस मुख्याय या धाध्याय से सम्बन्धित एक अथ अथ को हम ग्रहण कर लेते हैं जो प्रकरण सम्मत होता है। इस अथ को ग्रहण करन म या तो कोई लौकिक-व्यवहार रुढि कारण होता है अथवा वता अपने प्रयुक्त शब्दों द्वारा किसी प्रयोजन विशेष को व्यक्त करना चाहता है। इस प्रकार जो एक दूसरे अथ का बोध होता है उसे ही हम लक्ष्याय कहते हैं। इसका बोध कराने वाली शब्द की जो शक्ति है उसे लक्षणा शक्ति कहते हैं और उस शब्द को लाक्षणिक शब्द कहा जाता है।

उदाहरण के लिये 'रणजीतसिंह पञ्जाब के शेर थे', वाक्य में एक मानव के सग शेर की सगति ठीक न बठने के कारण इसका अभिधेयाय न ग्रहण करके लक्ष्याय ही ग्रहण किया जाता है। इस वाक्य में लक्षणा नामक शक्ति से ही शेर की क्रूरता और शौर्य का ज्ञान हो जाता है जो प्रस्तुत प्रसग के अनुकूल है। ऐसे शब्दों का प्रयोग एक विशेष प्रयोजन से ही यहा किया गया है। इसी प्रकार 'वह मेरे अनुकूल हैं' वाक्य में अनुकूल शब्द का व्युत्पत्तिगत अथ यह है कि जो वृत्त के विपरीत न हो अर्थात् जलाशय की ऐसी लहर जो किनारे का न काटे। धीरे धीरे यह अनुकूल शब्द किमी भी रविवर किया या वस्तु का उपचार से बोधक हो गया और लोक व्यवहार में भी इसका प्रयोग इसी अथ में होने लगा। इसी प्रकार लावण्य और अनुलोम आदि शब्दों की दगा समझना चाहिये। लक्ष्याय का सम्बन्ध मुख्याय से किसी न किसी रूप में अवश्य बना रहता है।

लक्षणा के तत्व—लक्षणा के वाय यापार के लिए उसमें तीन तत्वों का होना अनिवार्य माना जाता है।

१ मुख्याय बाध—शब्द के साक्षात् सवैतिक अथ का प्रयुक्त वाक्य में अन्वयानुपपत्ति का होना अर्थात् जिस शब्द से लक्ष्याय का ज्ञान होता है, उस

शब्द की संगति प्रयुक्त अथवा शब्दों के साथ बैठ नहीं पाती। इनमें सीधा अर्थ सम्भव नहीं माना।

२ तद्योग—जब मुख्यार्थ का सम्बन्ध अन्य शब्दों के अर्थों से नहीं बँटता है, तब उनी से सम्बन्धित किसी अन्य अर्थ को हम ग्रहण कर लेते हैं। इसमें सन्धार्य का आधार वाक्यार्थ ही होता है। इस प्रकार सन्धार्य वाक्यार्थ की परम्परा से होकर ही घट्टक बन पाता है।

३ रुद्धि का प्रयोजन—जब वाक्य के शब्दों से हम किसी ऐसे अर्थ का ज्ञान कराना चाहते हैं जिसके अर्थ की संगति नहीं बँटती है तो इस प्रयोग की उपयोगिता सिद्ध करने के लिये ही कोई अन्य आधार ग्रहण करते हैं। प्रथम उस प्रयुक्त शब्द का किसी विनाय अर्थ में प्रतिष्ठित हो जाना और द्वितीय उस शब्द के प्रयोग से वक्तव्य के किसी विशेष प्रयोजन का सिद्ध होना। आचार्य मम्मट ने इन तीनों हेतुओं का समर्थन करते हुए कहा है कि 'मुख्यार्थ वाच्य अर्थात् अथवानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति का होना उस मुख्यार्थ के साथ लक्ष्याथ का सम्बन्ध होना तथा रुद्धि का प्रयोजन में से किसी एक का होना—इन तीनों से युक्त होकर जिस शब्द शक्ति द्वारा किसी अन्य अर्थ का लक्षित होना सम्भव होता है, उसे लक्षणा 'गवित्त' कहते हैं।<sup>१</sup> आचार्य विश्वनाथ ने भी इसका समर्थन करते हुए मुख्यार्थ वाच्य तद्योग और रुद्धि या प्रयोजन में से किसी एक का होना आवश्यक माना है।<sup>२</sup> इस प्रकार यह व्यक्त हो जाता है कि लक्षणा के लिये इन तीनों तत्वों का होना अनिवार्य है। यदि इनमें से कोई भी एक न हो तो ऐसी दशा में लक्षणा शक्ति का व्यापार नहीं माना जायगा। इसीसे काव्य-प्रकाश की बालबोधिनी टीका में इन तीनों के लिये एक वचन 'हेतु' का प्रयोग किया गया है, 'हेतव' का नहीं। जब अलग-अलग प्रतीत होने वाले ये तीनों ही तत्व वास्तव में एक ही उद्देश्य की सिद्धि के लिये मिलकर काम करते हैं। इनका सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार का माना जायगा जो सम्बन्ध घट के निर्माण में दण्ड, सूत्र, कुम्हार और मिट्टी में है। जैसे एक के भी अभाव में घट निर्माण सम्भव नहीं है उसी प्रकार लक्षणा के लिये भी मुख्यार्थ वाच्य तद्योग, रुद्धि या प्रयोजन में से अथवा तत्र का होना आवश्यक है।

१ मुख्यार्थवाच्ये तद्योगे रुद्धिनोऽथप्रयोजनात् ।

अथोऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥ काव्य प्रकाश  
२/६ पृष्ठ ५१

२ मुख्यार्थवाच्ये तद्युक्तो यथा योऽथ प्रतीयते ।

रुद्धे प्रयोजनाद्वासी लक्षणा गवित्तरपिता ॥ साहित्य दण्ड परि० २

लक्षणा के सम्बन्ध में वृत्तिवातिकार का भी लगभग यही मत है। इसमें मुख्याय के सम्बन्ध में शब्द के प्रतिपादकत्व का समर्थन किया गया है।<sup>१</sup> परन्तु श्लोकवातिक में कुमारिल भट्ट ने लक्षणा व सम्बन्ध में एक दूसरी ही बात कही है। उनके अनुसार अभिधेय से अविनाभूत जो प्रतीति हो, उसे ही लक्षणा कहा जा सकता है।<sup>२</sup> मीमांसक कुमारिल भट्ट के इस विचार में 'प्रतीति' को लक्षणा कहा गया है, परन्तु मम्मट के अनुसार प्रतीति अथवा किसी प्रकार की प्रतिपत्ति (चान) लक्षणा नहीं हो सकती है। लक्षणा तो शब्द का एक व्यापार है। कुछ लोगों ने कुमारिल भट्ट की परिभाषा में भी शब्द के व्यापार का होना सिद्ध किया है। ऐसे लोगों के अनुसार 'प्रतीति' का अर्थ 'प्रतीति का कारण भूत' व्यापार माना गया है। इस शब्द का विग्रह करते हुए कारण में 'वितन्' प्रत्यय लगाकर "प्रतीयतेऽर्थोऽनया इति प्रतीति," इस प्रकार कहा गया है। अतः इस विग्रह में स्पष्ट रूप से शब्द व्यापार का ही संकेत मिलता है।

मुख्याय वाच्य के रूप—अवयानुपत्ति—ऊपर की पक्तियों में मुख्याय-वाच्य की जो चर्चा की गई है उस सम्बन्ध में दो मत हैं—

१ काव्य प्रकाश के टीकाकारों का मत—इनके अनुसार प्रयुक्त शब्दों से जहाँ अवयव की अनुपत्ति हो अर्थात् जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है, उनके साक्षात् संकलित अर्थ को ग्रहण करने से उस वाक्य का अवयव ठीक नहीं बठ पाता है वही मुख्याय वाच्य माना जायगा। उदाहरण के लिये "गगाया घोस" वाक्याश में गङ्गायापद का अर्थ गङ्गा की धारा और 'घोस' पद का अर्थ घोसियों की बस्ती है। वाक्याश में गङ्गा की धारा में जिन घोसियों की बरसी की बात कही गई है, उनका धारा में आधार बनने की क्षमता नहीं है। अतः अवयव ठीक ठाक नहीं बठ पाता है अर्थात् प्रयुक्त शब्दों द्वारा जिन अर्थों का ग्रहण होता है, वे अर्थ मिलकर अपने अभिधेय रूप में अन्वित नहीं हो पाते हैं। और मुख्याय वाच्य हो जाता है इससे सम्बन्धित हम एक दूसरे अर्थ का ग्रहण कर लेते हैं जो अवयव के उपयुक्त होता है। यहाँ गङ्गायापद से 'गङ्गातीर' का अर्थ लेने है। तीर में बस्ती के आधार बनने की क्षमता रहती ही है। अतः अवयव भी ठीक बठ जाता है।

१ सा च मुख्यायसम्बन्धेन शब्दस्य प्रतिपादकम् । वृत्तिवातिक १५

२ अभिधेयविनाभूत प्रतीतिलक्षणोच्यते ।

लक्षमाणगुणयोर्गाद् वृत्तिरिष्टा तु गीयता ॥ कुमारिल भट्ट



'दक्ष' माना जाने लगा है। इस पद में दक्ष शब्द से इसका कोई सम्बन्ध न होने से हम इसे व्युत्पत्तिगत मुख्यार्थ बाध मानेंगे। यह भी ध्यान रखना होगा कि कुशल पद इस लक्षार्थ में रुठ या प्रसिद्ध हो गया है। अतः यहाँ रुठि या प्रसिद्धि के कारण मुख्यार्थ से भिन्न जो एक अमुख्यार्थ की प्रतीति होती है उसकी प्रतीति में गल्ल या लक्षणिक व्यापार ही माना जायगा और उस गल्ल या व्युत्पत्तिगत विषयक आरोपित शब्द का व्यापार लक्षणा माना जायगा अर्थात् सम्मट न लक्षणा को जो सा तराय निष्ठ शब्द व्यापार माना है, उसका अर्थ यह है कि गल्ल और लक्ष्याय के बीच में आने के कारण वाच्यार्थ को सा तर (स + अतर) कहा गया है अर्थात् पहले हम शब्द का प्रयोग करते हैं, उससे वाच्यार्थ की प्रतीति बाद में लक्ष्याय का ग्रहण और इस पान में शब्द का लक्षणा व्यापार काम करता है। इस प्रकार वाच्यार्थ, शब्द और लक्ष्याय के बीच का अर्थ हुआ और उस 'सा तर' कहा गया है तथा लक्षणा-व्यापार इसी वाच्यार्थ पर अवलम्बित रहता है। भाव यह है कि अभिधा की भाँति लक्षणा शब्द का स्वाभाविक व्यापार नहीं है, क्योंकि इसके स्वाभाविक अर्थ का तो बाध हो जाता है और मुख्यार्थ के सहारे लक्षणा द्वारा एक तवीन अर्थ प्राप्त हो जाता है। इसी से सम्मट ने लक्षणा को आरोपित व्यापार या सा तरायनिष्ठ कहा है। इसका आगप यह है कि मुख्यार्थ गल्ल और लक्ष्याय के बीच में रहने वाला अर्थ है। मुकुन्द भट्ट ने भी उपाया है कि हमें लक्ष्याय का बोध मुख्यार्थ के माध्यम से होता है और सम्मट के शब्दों में लक्षणा को इसी कारण सा तरायनिष्ठ शब्द व्यापार कहा गया है।<sup>१</sup>

प्रयोजन—यदि रुठि नहीं होगा तो गल्ल का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होना चाहिए। जस गल्लाय घोष' वाक्य में 'गल्लाय' का शाब्दिक अर्थ गला में होगा। परन्तु गला की धारा में आधारत्व की क्षमता नहीं है। अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध होगा और इस प्रकार के वाक्य के प्रयोग का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होगा। इससे सामिप्यादि या गत्य पावनत्वादि का बोध माना जायगा। यदि गलाया के स्थान पर 'गलातीरे' का प्रयोग करें तो प्रथम गला की अधारा में जो सत्य पावनत्वादि घम है, उनका बोध नहीं हो पाता

१ " तथा गलाते घोष इत्यादे प्रयोगात् तेषा न तथा प्रतिपत्ति तेषा पावनत्वादीना घर्माणा तथा प्रतिपादनात्मन प्रयोजनाच्च मुख्येन अमुक्याऽर्थो लक्षते यन् स आरोपित गल्लव्यापार सा तरायनिष्ठा लक्षणा।" — काय प्रकाश उल्लाम २ पृष्ठ ५२



है और वक्ता के प्रयोजन शत्यादि के प्रति हम अज्ञान में ही रह जाते हैं। दूसरी बात यह है कि गंगा तट कटन से उसक दूर क भाग का भी अर्थ जात होता है, जहाँ पर जल की शीतलता का कोई प्रभाव नहीं हो सकता है। अतः सिद्ध हुआ कि शत्य पावनस्व रूप विशेष प्रयोजन का बोध कराने के लिए ही इस प्रकार के शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें मुख्य अर्थ गंगा की धारा क भिन्न दूसर अमुख्य अर्थ गंगा तीर की प्रतीति, एक विशेष प्रयोजन शत्यादि के बोध के लिए ही होती है। स्पष्ट है कि एक विशेष प्रयोजन के लिए ही ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। यहाँ जिस अमुख्य अर्थ का ज्ञान हाता है वह शब्द का व्यवहिताथ विषयक आरोपित व्यापार ही है और इसे ही लक्षणा कहते हैं।

**लक्षणा भेद**—लक्षणा के स्वरूप का निर्धारण हो जाने के बाद उसके भेदों को भी समझ लेना चाहिए। आलंकारिकों में उसके भेदों के सम्बन्ध में मतभय नहीं है। काय प्रकाश क टीकाकारों में भी भिन्न भिन्न प्रकार से अपन विचार व्यक्त किये हैं। लक्षणा भेद को बताते हुए आचार्य मम्मट ने उसके छ भेद वेदांत में तीन भेद (जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदहल्लक्षणा) किसी ने तेरह भेद (श्लो १ गीणी ४ शुद्धा तथा प्रयोजनवती क ८ भेद), घृत्तिवातिककार ने प्रयोजनवती के ७ भेद, विश्वाय क मत से १६ भेद हैं। यहाँ पर केवल आचार्य मम्मट के भेदों पर ही विचार किया जायगा।

लक्षणा के आवश्यक तत्वों में रुचि या प्रयोजन में अन्वयतर का होना अनिवार्य है। इस आधार पर लक्षणा क रुचि और प्रयोजन य दो मुख्य भेद हो जाते हैं।

**रुचिलक्षणा पर विचार**—रुचि के उदाहरण में कर्मणि कुशल 'वाक्य का प्रयोग किया गया है। आचार्य मम्मट क अनुसार इस उदाहरण में लक्षणा के तीनों ही तत्व आ जाते हैं। इस लक्षणा वृत्ति से ही इस वाक्य का अर्थ बोध होता है। इन वाक्य में प्रयुक्त कुशल'प' का श्युत्पत्ति मूलक अर्थ कुशा को लाने वाला का काम करने वाला से है। यहाँ मुख्याथ वाच्य शब्द रूप में है।

दूसरी बात यह है कि लक्षणा से प्राप्त अर्थ का सम्बन्ध किसी क किसी रूप में अवश्य होना चाहिए। कुशल'प' में कुशा लाने की प्रिया में भी किसी प्रकार की पटुता अवश्य रहती है। इसी आधार पर कुशल'प' का दण्ड अर्थ प्रसिद्धि क कारण हो जाता है। इस प्रकार यहाँ मुख्याथ का सम्बन्ध भी लक्षणा से ही जाता है। दूसरी बात रुचि या प्रयोजन में क अन्वयतर का होना

है। यहाँ यही कहा जायगा कि परम्परा में इस शब्द का प्रयोग होता आया है। इस प्रकार तीनों तत्वा के हो जाने से यहाँ इसे रुढ़ा लक्षणा का उदाहरण मानेंगे।

विश्वनाथ और हेमचन्द्र का मत—इन दोनों आचार्यों ने इसे रुढ़ा लक्षणा का उदाहरण नहीं माना है। इसे वे रुढ़ि से राहित होने के कारण 'निरुढ़ा लक्षणा' मानते हैं। 'वमणि कुशल' में कुशल पद का दक्ष अथ मुख्य अर्थ है आरापित या गीण अर्थ नहीं है। जो लोग (मम्मट) इसे गीण मानते हैं उसका यही कारण हो सकता है कि इसका 'युत्पत्ति मूलक' अर्थ दक्ष या पद 'कुशल' के अर्थ से भिन्न होता है, किंतु 'युत्पत्ति मूलक' अर्थ मुख्य अर्थ नहीं माना जा सकता है। जिस गो श्लोके वाक्य में इनका मत से 'जो चलता है, वह साता है, यह मुख्याय हुआ, परंतु इस वाक्य में स्पष्ट विरोध है, क्योंकि जो चलता है वह सी नहीं सकता। अतः इस अर्थ के प्रसंगानुसूल न होने से इससे गो नामक पशु शिप का ही अर्थ ग्रहण किया जायगा। इस प्रकार व्युत्पत्ति मूलक अर्थ मुख्य अर्थ नहीं होता और मम्मट का यह उदाहरण रूढ़ा का न होकर निरुढ़ा लक्षणा का ही माना जायगा।

निरुढ़ा लक्षणा—का स्पष्टीकरण जमिनीय सूत्र के भाष्य में शबर स्वामी ने तथा तत्रवार्तिक में कुमारिल भट्ट<sup>२</sup> ने किया है। शबर स्वामी के अनुसार लक्षणा 'शोक-व्यनहार' पर आधारित रहती है। इस शक्ति द्वारा समाज के अरिरोपित और स्वीकृत अर्थ का जाना होता है। यह अर्थ कभी-कभी इतना प्रबल हो जाता है कि लोग मुख्याय का भूल जाते हैं ऐसी स्थिति में लक्षणा शक्ति का व्यापार होता है उसे निरुढ़ा लक्षणा कहते हैं। इसका अर्थ मुख्याय न होकर रुढ़ा अर्थ होता है और इस ही निरुढ़ा कहते हैं।

हेमचन्द्र का वर्णन—आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार सभी रूढ़ा मुख्याय होता है। कुमारिल भट्ट ने निरुढ़ा के तीन भेदों को बताया है। १ प्राचीन निरुढ़ा २ नवीन सम्भवा ३ नवीन असम्भवा निरुढ़ा। अंतिम

१ केचित्तु वमणि कुशल इति रुढ़ावुदाहरति । तदर्थे न मन्यन्ते ।  
कुशाग्राहि रूपायस्य व्युत्पत्तिलभत्वे पि दक्षरूपस्यैव मुख्यायत्वान् ।  
साहित्य दण्ड-परि०२ पृ० ५१

२ निरुढ़ा लक्षणा काश्चिन्न सामर्थ्यान्निधानवत् ।

प्रिय ने साम्प्रतं वार्त्तिकं नवव्याख्यते ॥ कुमारिल भट्ट

दो भेदों के उदाहरण म 'गङ्गाया घोष' और 'कमलि कुशल' बनाया गया है। भट्ट सामन्तवर के वाक्य प्रयोग की वाक्यादश टीका म 'निरुद्धा इति भ्रष्टापचार प्रतीतय' कहा है।<sup>१</sup> आचार्य मम्मट न भी इसका कुछ सबत तो पर ही लिया है।<sup>२</sup> हेमचन्द्र न सभी रुद्धाथ को मुख्याय माना है।

प्रयोजनवती लक्षणा—जहाँ पर लाक्षणिक शब्द का प्रयोग विसा विशेष अभिप्राय से किया जाता है, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है। आचार्य मम्मट ने उदाहरण के लिये 'गङ्गाया घोष' वाक्य का प्रयोग किया है। इस वाक्य म लक्षणा के तीनों ही अंगों का प्रयोग किया गया है। गङ्गा की धारा म वाक्यादा म मुख्याय वाय है। इससे इसका अर्थ गङ्गा का तट घट्टण किया जाता है। इसका सम्बन्ध गङ्गा की धारा से भी बना रहता है। अत 'तद्योग भी हो जाता है। दूसरे गङ्गा से गङ्गा तट का हा अर्थ ग्रहण किया जायगा यमुना तट का नहीं। यहाँ समीप समीपि भाव भी है वसा का प्रयोजन शब्द पावनत्व को बताना है इस प्रकार प्रयोजन की तीसरी गत भी पूरी हो जाने से इस लक्षणा का उदाहरण मानगे। कुछ लोगो ने इसे नवीन सम्भवा निरुद्धा का उदाहरण माना है।

लक्षणा का शुद्धामूलक भेद—आचार्य मम्मट ने गुद्धा लक्षणा के दो भेद माने है प्रथम गुद्धा उपादान लक्षणा और द्वितीय गुद्धा लक्षण लक्षणा।<sup>३</sup> जहाँ अपने अर्थ की सिद्धि के लिये किसी दूसरे अर्थ का आक्षेप करा लिया जाता है अथवा दूसरे अर्थ की सिद्धि के लिये अपने अर्थ का त्याग किया जाता है, वहाँ क्रमश उपादान और लक्षण लक्षणा समझना चाहिये। यहाँ मुख्याय का त्याग केवल इमालिये हाता है कि मुख्याय से सम्बन्धित दूसरे अर्थ की तक पूण सगति बठाई जा सके। वेदात्त म इसी उपादान लक्षणा का दूसरा नाम अब्रह् स्वार्था लक्षणा बताया गया है तथा लक्षण लक्षणा को जहस्वार्था।

उदाहरण—कु ता प्रविगन्ति, पष्टय प्रविगति' इन दोनों ही वाक्यों म भाले जोर लाटियाँ दानों ही अबतन पदाय हैं इससे उनम अपनी ही

१ राजस्थान प्राच्य विद्या सस्यान स प्रकाशित सन १९५६ संस्करण।

२ निरुद्धा वाचिदनाया तु वार्था सा वाचिद यथा शब्द व्यापार मम्मट।

३ स्वसिद्धये पराक्षेप पराश स्वसमपणम्।

उपादान लक्षण चव गुद्धा द्विधा मता ॥ वाक्य प्रकाश ॥ २११०

शक्ति से प्रवेश क्रिया सम्भव नही हो सकती है। यहा पर प्रवेश क्रिया की साधकता मिट्ट करन के लिये 'भालधारी' तथा 'लाठी' को धारण करन वाले पुरुष प्रवेश कर रहे हैं, यह अर्थ लिया जायगा। इस प्रकार दोना उदाहरणो म मुख्याय भी बना हुआ है तथा इनसे सम्बन्धित 'व्यक्ति का आक्षेप से ग्रहण कर लिया जाता है। इसलिये यहाँ उपादान लक्षणा है।'

मुकुलभट्ट का उदाहरण और मम्मट का विचार—मुकुलभट्ट न उपादान लक्षणा को स्पष्ट करने के लिये दो उदाहरण दिये है। प्रथम "गौरनुबन्ध" और द्वितीय 'पीनो देवन्तो दिवा न भुङ्क्ते।' प्रश्न यह है कि ये उदाहरण उपादान लक्षणा म उपयुक्त हो सकते हैं या नही। आचार्य मम्मट ने इन दोनो उदाहरणो का खण्डन किया है। पहले मुकुलभट्ट के मत को समझ लेना आवश्यक है।

मुकुलभट्ट का मत—मीमांसक हान के कारण इ हानि सभी उदाहरण मीमांसक से लिये है। 'गौरनुबन्ध' गो को मारना चाहिये, इस विधि वाक्य मे इसी लक्षणा का समर्थन किया गया है। मीमांसको के अनुसार 'गो शब्द का मुख्याय गोत्व जाति' हाना है ना शब्द व्यापाराद् गोत्व लक्षणा जातिरेवावगम्यते। स एव मुख्योऽर्थः," किन्तु वमस्त गो जाति को मारना सम्भव नहीं है इसलिये इन दाना की तक पूर्ण सगति बठान के लिये लक्षणा शक्ति का सहारा लेना पडता है और इसका अर्थ गो जाति न लेकर गोत्व विशिष्ट गो व्यक्ति से लये। इस प्रकार गो जाति से गो व्यक्ति का बोध करा लेंगे और गो शब्द का मुख्य अर्थ गो जाति अथवा गोत्व से सम्बन्धित गो व्यक्ति का अर्थ ग्रहण होगा तथा वह जाति व्यक्ति का वाचक बन जाता है।

मुकुलभट्ट द्वारा पूर्व पक्षियों का खण्डन—मुकुलभट्ट न यही पर अपने मत की स्थापना करते हुए पूर्व पक्षियों का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि पूर्वपक्षी मह बहे कि गो शब्द पहले गो जाति का अर्थ देगा और बाद म गो व्यक्ति का अर्थ सिद्ध होगा। इन दाना ही अर्थों का वक्त करने मे शब्द की अभिधा शक्ति ही काम करती है। ऐसी स्थिति म यह कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि मीमांसकों के अनुसार अभिधा एक बार जब विशेषण का प्रकट कर लेती

१ 'कुत्ता प्रविशति, यष्टय प्रविशति' इत्यादी कुत्ताभिः प्रात्मनः प्रवेशमिच्छय स्वस्याग्निं पुरुषा आक्षिप्यत। तत उपादानमय लक्षणा। का० प्र० २रा उ० तास।

है, तो उसकी शक्ति क्षीण हो जाय व कारण वह विनाश का प्रसङ्ग नहीं कर सकेगी । 'गौरनुबन्ध' वाक्य में गो का मुख्य अर्थ शब्द जाति उसके लक्षणिक अर्थ गो व्यक्ति का विगणन होगा और गो व्यक्ति विगण्य कहा जायगा, तो जब गो से जाति का बोध हो गया तो पुनः उक्त शक्ति का शेष नहीं हो सकता है । अतः जाति से व्यक्ति का बोध आशेष से ही माना जायगा, सा तान्त्रिक से उसका बोध नहीं हो सकता है । इस प्रकार मुख्य अर्थ का अन्वय अभिधा के सहारे गो से गो जाति का अर्थ जाना होगा विगण्य रूप गो व्यक्ति का अर्थ बोध नहीं हो सकता है । विगण्य यह निश्चय है अभिधा में अर्थ का शान्त न हाने से उपादान लक्षणा के द्वारा ही अर्थ का ग्रहण हो सकता है ।

आचार्य मम्मट द्वारा इत मत का उल्लेख — मम्मट १ गौरनुबन्ध वाक्य में उपादान लक्षणा नहीं मानता है क्योंकि इसमें लक्षणा के लक्षण दो नहीं हैं ही पूर्ति होती है तीसरी उद्दिष्ट या प्रयोग में स ४ पंक्ति वाली गत पूरी नहीं हो पाती है, क्योंकि इन दोनों में स यहाँ बाँट भी एक नहीं है । 'सो दत्ता' में गो से गो व्यक्ति का ज्ञान क्या हो सकता है । मम्मट का मत है कि जाति से व्यक्ति का अविनाभाव सम्भव है । इससे गो जाति से गो व्यक्ति का अर्थ अविनाभाव के कारण हो सम्भव होता है गो से आशेष द्वारा गो व्यक्ति का बोध नहीं होता, जसा कि भोमासन मानते हैं । इस प्रकार अविनाभाव द्वारा जाति से व्यक्ति का जो बोध होता है, वह वाक्य की आकांक्षा का पूर्ण करने के लिये ही होता है । इससे समर्थन में मम्मट ने कई उदाहरण दिये हैं यथा 'क्रियताम विद्या की आकांक्षा की पूर्ति के लिये कर्ता 'त्व' का स्वयमेव बोध हो जाता है जिसका प्रयोग स्पष्ट नहीं किया गया है । इसी प्रकार 'कुरु' कर्म की आकांक्षा रूप में कर्म का आशेष कर लिया जाता है इसी प्रकार 'गौरनुबन्ध' वाक्य में गो शब्द की आकांक्षा के रूप में गोत्वं का आशेष कर लिया जाता है । आचार्य मम्मट का इस सम्बन्ध में यही विचार है ।

यहन से विद्वान् मम्मट के इस विचार से सहमत नहीं हैं । नागोजी मट्ट ने अनुमान का सहारा लिया है । आचार्य मम्मट के द्वारा उक्त 'आशेष' के लिये 'बुमारिल' और प्रभाकर मट्ट ने 'अध्याहार' का प्रयोग किया है । गो में गो व्यक्ति का जो आशेष होता है उसे प्रभाकर ने 'अध्याहार' कहा है । बुमारिल मट्ट का यह विचार है कि जिस प्रकार 'प्रविश' विद्या की पूर्ति के लिये 'शुद्ध

१ विगण्य नामिधा गच्छेत् क्षीण शक्तिविशेषो ।

२ अर्थ-अविनाभावित्वात्तु यत्तिरक्षिपते ॥ का० प्र०

का और 'पिण्डम' शब्द की आकाशा पूर्ति क लिये 'भक्षय' शब्द आक्षिप्त कर लिये जाते हैं उसी प्रकार गो शब्द से गो व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है। अतः कुमारिल के मत में इसे 'शब्दाध्याहार' कहा है, क्योंकि गो शब्द के स्थान पर गो व्यक्ति शब्द की स्थापना करके ही इस अर्थ का ग्रहण हो पाता है। आचार्य मम्मट द्वारा जो इस मन का खण्डन किया गया है उसके मूल विचारक सम्बन्ध में भी मतभेद है। उद्योग टीका के अनुसार 'गौरवुबन्ध' द्वारा कहा गया मत खण्डन मिथ्य है किन्तु माणिक्यचन्द्र ने इसे मुकुल भट्ट का सिद्धांत माना है। यह मत चाहे जिसका हो, परन्तु मम्मट के मत से उसका मेल नहीं बैठता है।

मुकुल भट्ट का दूसरा उदाहरण और उसका खण्डन—मुकुल भट्ट ने वाक्य लक्षणा का दूसरा उदाहरण दिया है। 'पीनो देवदत्तो दिना न भुङ्क्ते' देवदत्त मोटा है परन्तु दिन में नहीं खाता।' इस वाक्य में देवदत्त के पीनत्व की सायकता मिट्ट करने के लिये 'रात्रि' में खाता है, इस अर्थ का उपादान में ग्रहण करना पड़ता है। इसलिये यहाँ उपादान लक्षणा होगी।

आचार्य मम्मट ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि यहाँ पर लक्षणा न होकर अर्थापत्ति प्रमाण है, जो लक्षण के अन्तर्गत नहीं आता है। मोमासको के अनुसार किसी अनुपपद्यमान अर्थ का देखकर उसका उपपाद की भूत अर्थान्तर की कल्पना करना अर्थापत्ति प्रमाण कहा जाता है। यहाँ पर पीनत्व अनुपपद्यमान अर्थ है क्योंकि दिन में न खाने वाले का पीनत्व सम्भव ही नहीं है यदि वह रात्रि में भी भोजन न करे। इसलिए इस वाक्य में रात्रि भोजन उसका उपादकाभूत अर्थ है। इस प्रकार अनुपपद्यमान अर्थ दिन में न खाने वाले का मोटापन देखकर उससे उपादक रात्रि भोजन की कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण से ही सम्भव है। यदि कोई व्यक्ति रात या दिन दोनों ही समयों में नहीं खाता है तो उसका पीनत्व सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार पीनत्व का अनुपपद्यमान अर्थ की मिट्टि रात्रि भोजन से ही हो सकती है। अतः यहाँ लक्षणा न होकर अर्थापत्ति प्रमाण ही है।

लक्षण-लक्षणा—इसका उदाहरण में "गणपतिं घायं चक्षुःश्रिया गच्छा" है। लक्षणा के य दोनों ही भेद युद्धा के अन्तर्गत हैं क्योंकि इसमें उपचार (माहृत्य) नहीं है। अतः त सहज पदार्थों का माहृत्य के कारण भेद का अन्तर्गत

मान होना जहाँ स्थगित हो जाता है, वही पर उपचार माना जाता है।<sup>१</sup> इस सम्बन्ध में मतभेद भी दीख पड़ता है। प्रतीयकार ने सादृश्य सम्बन्ध पर उसे आधारित बताया है। मम्मट इसमें तादृश्य सम्बन्ध मानते हैं, गालम व अनुसार यह शब्द प्रयोग है। इसीलिए सभी प्रकार की लक्षणाओं को उपचार द्वारा ही स्पष्ट किया गया है। कुतक उपचार को सादृश्य भूलय साक्षात् लक्षणा का कारण मानते हैं। इनके मत से उपचार का प्रयोग अप्रस्तुत प्रतीति अलंकार में प्रतीयमान के अर्थ में होता है। महिमभट्ट ने इसमें अनुमिति अर्थ ग्रहण किया है। इसी से रस के प्रसार को उ होने अनुमान द्वारा ही सिद्ध किया है। मुकुलभट्ट ने इसे लक्षणा का आधार कहा है, जो काय कारण भाव पर अथवा सादृश्य पर आधारित है।

काय कारण भाव पर आधारित लक्षणा को गुह्योपचार और दूसरी को गौणोपचार कहते हैं। मम्मट ने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया है। इसी से टीकाकारों में इस भेद के सम्बन्ध में मतभेद है। परन्तु अत्रिंशत्स्येण इयं सादृश्यमूलक ही मानते हैं। कुछ लोग ने तादृश्य के चार सम्बन्धों में से दो चार को एक पर आधारित माना है।

मुकुलभट्ट का मत—मुकुल के मत से उपचार का मिश्रण गौणी और गुह्य दोनों में होता है। इसी में उ होने पड़ते गुह्योपचार और गौणोपचार का भेद किया है फिर दोनों के साक्षात् और सादृश्यमाना आना भेद किया गया है। इस प्रकार उपचार मिश्रा के चार भेद और गुह्य के दो भेद किया गया है। अर्थ के लिए अर्थ शब्द के प्रयोग का ही उ होने उपचार माना है। जहाँ सादृश्य के आधार पर अर्थ के लिए अर्थ शब्द का प्रयोग होता है वहाँ गौणोपचार और जहाँ यह प्रयोग काय कारण भाव पर आधारित होता है वहाँ गुह्योपचार होता है। इस प्रकार उपचार के भी दो भेद हान पर मम्मट ने इन दोनों को अलग अलग माना है, परन्तु मुकुलभट्ट इग भेद का उचित नहीं मानते हैं। अतः मुकुलभट्ट ने अपन तादृश्य सिद्धांत की पुष्टि की है।

मुकुलभट्ट का तादृश्य सिद्धांत—तादृश्य सिद्धांत अर्थात् लक्ष्य अर्थ और लक्षक अर्थ के भेद को ही गुह्य और गौण का भेद माना गया है। गौणी का लक्षणा में सादृश्यातिशय के कारण लक्ष्य और लक्षक का अभेद प्रतीत होता है। यथा गोर्वाहोके 'पजावी बल है वाग्य में जटता में दत्ता जादि

१ अत्यन्त विचित्रलितयो सादृश्यातिशयमहिम्नाभेदप्रतीतिस्थगन उपचार ॥

गुणों का पञ्चावीं और षष्ठ में सादृश्य होने के कारण गी और वाहीक अथ में अभेद की प्रतीति होती है। इसका विपरीत गुडा लक्षणा (उपाहार और लक्षण) में लक्ष्य और लक्षक अथ का अभेद नहीं होना, अपितु भेद रूप तादृश्य बना रहता है। यही इसका तादृश्य सिद्धान्त है। इसके अनुसार 'वृत्ता प्रविशति' और 'गगाया घोष' इन दोनों उपाहरणों में लक्ष्य और लक्षक अथ का अभेद नहीं है अपितु भेद रूप तादृश्य बना रहता है। अतः तादृश्य में ही गुडा लक्षणा होती है अर्थात् शुद्ध लक्षणा में लक्ष्य और लक्षक अर्थों में भेद बना रहता है और गौणी लक्षणा में दोनों अर्थों में अभेद रहता है।

मम्मट द्वारा तादृश्य सिद्धान्त का खण्डन—आचार्य मम्मट ने मुकुलभट्ट के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। इसके अनुसार गुडा लक्षणा के दो भेदों उपादान और लक्षण में लक्ष्याय (तीर रून) और लक्षक अथ (गङ्गा का जल प्रवाहरूप) में भेद प्रतीति नहीं होने से इनमें तादृश्य सिद्धांत नहीं माना जा सकता है क्योंकि 'गङ्गाया घोष' अर्थ में गङ्गा का अर्थ तट होता है। ऐसी दशा में इसका प्रयोग का प्रयोजन शीतलता और पावनता को प्रकट करना ही होता है। इस प्रयोजन की सिद्धि तभी होती है, जब हम गङ्गा को तट समझें और ऐसा होने में आराधना का भाव जा जाता है। अतः मुकुलभट्ट के सिद्धान्त का निराकरण हो जाता है। यदि पूरा पशु यह कह कि गंगा से तट का भाव उन में गंगा और तट में भी एक समान ही लिखा पड़ता है, तो कहा जा सकता है कि यह अर्थ अभिधा में भी सिद्ध हो सकता है तो फिर लक्षणा का प्रयोग ही व्यर्थ है।<sup>१</sup>

सारोपा लक्षणा—जहाँ विषयी के द्वारा विषय आराधित किया जाता है उसके लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है।

(१) लक्ष्याय और मुख्याय (विषय और विषयी) दोनों का समानाधिकरण करते हुए एक साथ उनका निर्देश होना चाहिए।

(२) रूपक अलंकार का मूल यही गौणी सारोपा लक्षणा होती है।

१ अनयोः तादृश्य लक्षकस्य च न भेदरूप तादृश्यम् । तटादीनाह्नि गंगा दिशश्च प्रतिपादने तत्रैवप्रतिपत्तो हि प्रतिविषयाद्विषयित्वात् प्रयोजन सम्प्रत्यय । गंगा सम्बन्ध मात्र प्रतीतो तु गंगातटे घोष इति मुख्यगद्दाभिधानाल्लक्षणायां नो भेदः । काव्यप्रकाश । द्वि० उ० पृष्ठ ६१



(३) इसमें विषयी व द्वारा विषय आरोपित होता है ।

(४) दोनों एक ही कारक या विभक्ति में लिख जाते हैं । जैसे गोवाहीक (पञ्चावी बल है)

इस उदाहरण में सभी बातें मिल जाती हैं । गौ और वाहीक का स्पष्ट निर्देश भी किया गया है । दोनों एक ही विभक्ति में होने व कारण समानाधिकरण की विशेषता से भी युक्त है । समानाधिकरण से गौ को वाहीक का अर्थ भी प्रकट करना चाहिये यह वाय अभिधा द्वारा सम्भव नहीं है । अतः लक्षणा से काम लेना पड़ता है । यहाँ अतिशय मूल्यता को व्यक्त करना ही ध्येय है । इस स्थान पर वाच्याय (बन) और लण्याय (पञ्चावी) में समान गुण मूल्यता है । अतः समान गुणों व सादृश्य के कारण बल का लाक्षणिक प्रयोग किया गया है ।

साध्यवसाना लक्षणा—जब विषयी (आरोप्यमाण या उपमान) के द्वारा दूसरे का (उपमेय रूप आगेप विषय) अपने भीतर उन्माव कर लिया जाता है तो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होगी । जैसे 'गौरयम' या 'गौजल्पति' में आराप विषय वाहीक का सादृश्य उपादान नहीं है कि भी इसमें एक सादृश्य है । जो सादृश्यमूल्य होने व कारण ये दोनों गौणी लक्षणा के उदाहरण हैं । यहाँ पर गौ सादृश्य वाहीक की प्रतीति किस करता है, इस सम्बन्ध में कई मत हैं अथवा गौणी साध्यवसाना लक्षणा में लक्षणा वृत्ति से उक्त लक्ष्य अर्थ क्या है, इसमें बंध में तीन मत हैं—

(१) यहाँ गौ शब्द के अपने अर्थ के सहचारी जाडय मा लक्षण गुण लक्षणा द्वारा बोधित होकर गौ शब्द व द्वारा दूसरे अर्थ (वाहीक रूप का) अभिधा से बोधित करने में प्रवृत्ति निमित्त बन जाते हैं, 'अत्र हि स्वाय सहचारिणो गुण जाडयमा सादयो लक्ष्यमाणा अपि गौ शब्दस्य प्ररार्थभिधाने प्रवृत्ति निमित्तमुपयाति इति केचित् ।' इस लण्याय को बोधित करने में दो सरणियाँ काय करती हैं । (क) गौ शब्द लक्षणा व सहार पहले जाडय मासादि गुणों का संकेत करता है (ख) पुनः अभिधा के द्वारा वाहीक अर्थ देता है । इससे स्पष्ट है कि गौ शब्द का मुख्यार्थ बल है वाहीक नहीं है । इससे औचित्य को सिद्ध करने के लिये हम लक्षणा शक्ति जाननी पड़ेगी । लक्षणा के सहार जाडयमासादि—जो कि मुख्य अर्थ से सम्बद्ध है, प्रयोजन मूलक है

और लक्ष्याय नहीं है—या बोध होता है इसलिये गौ का दूसरा अर्थ वाहीक अभिधा के सहारे समझना चाहिए अर्थात् 'गौर्वाहीक' म (१) पहले अभिधा से गौ का बल अर्थ होता है (२) फिर वाच्याय से सम्बद्ध उसके सहचारी गुण जडता म दत्ता आदि का बोध लक्षणा से होता है क्योंकि बल में ये गुण यत्मान रहते हैं, इस प्रकार ये गुण स्वाय सहचारी हैं। (३) ये गुण (जडतादि) वाहीक में भी पाये जाते हैं। अतः वाहीक का व्युत्पन्न करने में पुनः अभिधा शक्ति काय करती है। इस प्रकार अभिधा लक्षणा और अभिधा कर्म से शब्द की शक्तियाँ गौ शब्द से वाहीक अर्थ की सिद्धि करती हैं।

उपपु वत्त मत का खण्डन — इस मत में स्पष्टतः तीन दोष दीख पड़ते हैं — (क) गौ शब्द का सर्वत्र वाहीक में नहीं हो सकता, क्योंकि इसका प्रथम अभिधा लक्षणा, अभिधा बताया गया है इसमें दूसरी बार अभिधा व्यापार का होना सम्भव नहीं है। इससे यह मत मान्य नहीं कहा जायगा।

(ख) जब एक बार लक्षणा द्वारा गौ गत जाय्य मा आदि का बोध हो गया, तो पुनः अभिधा से वाहीक अर्थ की प्रतीति कस हो सकती है, क्योंकि किसी भी शब्द का व्यापार एक ही बार होता है।

(ग) यहाँ लक्ष्याय को प्रवृत्ति रूप माना गया है परन्तु सिद्धांत के अनुसार वाच्याय ही प्रवृत्ति रूप हो सकता है, लक्ष्याय नहीं। अतः यह मत दोषपूर्ण माना जायगा।

२ दूसरा मत — इस मत के अनुसार गुण से गुणी व बोध करान का प्रयास है। गौ का लक्ष्याय गौत्वगुण है और अपन गुणी वाहीक का संबन्ध कर रहा है। गौ तथा वाहीक दोनों में ही एक ही प्रकार के गुण जडता म दत्ता आदि पाये जाते हैं। गुण की दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है। अतः गौ शब्द का मुख्य अर्थ बल है और उसमें पाये जाने वाले जडतादि गुणों के अर्थ के कारण लक्षणा शक्ति से वाहीक मत जडता मूखता गुण भी लक्षित होते हैं। वाहीक अर्थ के अभिधा से बोध करान में प्रवृत्ति निमित्त नहीं होता है।

निराकरण — (क) गौ और वाहीक में पाये जाने वाले गुणों में अभेद है। जडतादि गुण एक ही हैं, परन्तु उनका गुणी गौ और वाहीक अलग अलग है। अतः गौ के मुख्यार्थवाची शब्द से वाहीक में पाये जाने वाले गुणों का लक्षणा से बोध हो यह विचार अनुचित है क्योंकि धर्मों (गौ और वाहीक) इन दोनों की अलग अलग सत्ता है।

(ख) यदि लक्ष्याय व जाड्य मा आदि गुणों का बोध मान भी लिया

जाय, तो गुणी और गुण का सहप्रयोग कैसे सिद्ध हो सकता है ? इसे मानन पर 'जाड्य मां चादि गुण पञ्जाय के रहने वाले हैं' यह अनुचित अर्थ होगा। अतः गौ और वाहीक का सहप्रयोग अनुचित होने से लक्षणा का प्रयोग किया गया है। इस लक्षणा मूल्य अर्थ को ग्रहण करने पर भी सहप्रयोग सम्भव न हो तो लक्षणा को मानना भी अनावश्यक होगा। ऐसी स्थिति में आक्षेप से काम लेना पड़ेगा। इसमें गौरव-क्षेप आ जाता है। अतः यह मत भी माय नहीं हो सकता है।<sup>१</sup>

३ तीसरा मत—गौ में तथा वाहीक में पाये जाने वाले गुणों में साम्य है। इन समान गुणों के जाश्रय से गौ का अर्थ लक्षणा से वाहीक ही लेना चाहिए। तत्र वार्तिक में इसका समर्थन किया गया है कि मुख्याय का अर्थ प्रमाणों से बाधित हो पर मुख्याय से सम्बन्ध अर्थ अथ लक्षणा से प्रतीत होता है तथा लक्ष्यमाण गुणों के योग से लक्षणा वस्ति की गौणता हो जयगी। लक्षणा की प्रिया जब मुरयाय और गौणाय से सम्बन्ध पर होती है, तो उसे गौणाय कहते हैं। यहाँ गौ से वाहीक अर्थ लेने में मुख्य अर्थ बाध है ही साहचर्य सम्बन्ध के कारण तद्योग भी है। समान मुखता का बताना यहाँ प्रयोजन है। इस प्रकार समान जडता और मुखता के कारण गौ के मुख्याय बल और वाहीक में साहचर्य सम्बन्ध स्थापित होने पर गौ शब्द ही लक्षणा साधारण से वाहीक को लक्षित कर देता है। अतः यह मत अधिन समाचोन है। गौड़ी लक्षणा भी वही होती है जहाँ लक्षित गुणों के सम्बन्ध से द्वारा लक्षणा की प्रतीति हो। मम्मट ने इसी मत का समर्थन करते हुए तत्र वार्तिक के एक श्लोक का उद्धृत किया है। इस प्रकार गौणी लक्षणा के सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा का वर्णन किया गया। निम्नलिखित पत्तियाँ में शुद्धा के दोनो भेद सारोपा और साध्यवसाना का विचार किया जायगा।

शुद्धा लक्षणा—जहाँ साहचर्य सम्बन्ध से भिन्न किसी अर्थ सम्बन्ध से आरोप और अध्यवसान होता है वहाँ शुद्धा लक्षणा का भेद माना जाता है। 'आयुष तम् (घी आयु है) वाक्य में साहचर्य से भिन्न कारण काय भाव लक्षणा के प्रयोजक हैं। इस वाक्य में आरोप्यमाण आयु और आरोप विषय घत है। दोनो का उदत्त कथन भी हुआ है। इससे यह शुद्ध सारोपा नामक भेद है क्योंकि सारोपा में विषयी तथा विषय का स्पष्ट कथन होता है और शुद्धा में

१ स्वायसहचारिगुणाभेदेन परायणता गुण एव लक्ष्यते न परार्थोऽभिधीयत इत्यर्थे। काव्य प्रकाश पृ० ६३ आ० विश्वेश्वर

सादृश्य भिन्न सम्बन्ध पर लक्षणा आधारित रहती है इस उदाहरण में घृत और आयु में कारण कायभाव सम्बन्ध है। घृत जो आयु वृद्धक माना गया है अर्थात् आयु को बढ़ाने का यह एक कारण है।

शुद्ध साध्यवसाना में आरोग्य विषय का शब्द कथन नहीं होता है। वह विषयी में ही अन्तर्हित रहता है। उदाहरणार्थ घृत के लिये प्रयुक्त वाक्य 'आयु पिबामि (जीवन ही पीता हूँ) में जीवन के वाग्णभूत घृत का शब्द कथन नहीं हुआ है, वह आयु रूप विषयी में ही निहित रह जाता है। अतः आरोग्य विषय घृत का शब्द कथन न होने से यह शुद्ध साध्यवसाना का भेद होगा।

उपयुक्त विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि गौणी लक्षणा के दोनों भेदों में आरोग्यमाण (गौ) और आरोग्य विषय (वाहीक) में वस्तुतः भेद होने पर भी उन दोनों के तादात्म्य की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है। इसी अभेद की प्रतीति कराना इस लक्षणा का प्रयोजन माना जाता है। इसके सारोपा भेद में रूपक अलंकार और साध्यवसाना भेद में रूपकान्तिशयोक्ति अलंकार काय करता है।

शुद्ध लक्षणा के प्रयोजक हेतु—गौणी लक्षणा सादृश्य सम्बन्ध पर और शुद्ध सादृश्येतर सम्बन्ध पर आधारित रहता है। इसे कई प्रकार से स्पष्ट किया गया है—

(१) काय कारण भाव—का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। शुद्ध सारोपा का 'आयुष तम्' और शुद्ध साध्यवसाना का 'आयु पिबामि' उदाहरण है।

(२) तादात्म्य सम्बन्ध से भी शुद्ध लक्षणा को स्पष्ट किया गया है। तादात्म्य में अय के लिए अय का वाचक शब्द प्रयोग किया जाता है। जैसे इन्द्र के लिये बनाई गई स्तूणा भी तादात्म्य सम्बन्ध से इन्द्र कही जाती है।

(३) स्व स्थाभिभाव से अय शब्द का अयत्र प्रयोग होता है। जैसे राजा का विशेष कृपा पात्र व्यक्ति भी 'राजा' नाम से सम्बोधित होता है।

(४) अवयव अवयवि भाव सम्बन्ध से भी लक्षणा का निष्पन्न किया जाता है। जैसे हाथ के अग्रभाग के लिए भा 'दृष्ट शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

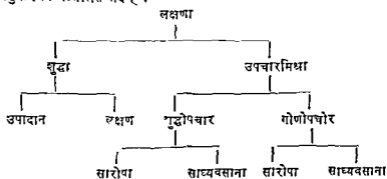
(५) तात्त्विक से भी उपचार का प्रयोग होता है अर्थात् अय के लिये अय का प्रयोग किया जाता है। जैसे बड़े का काम करने वाले बालक को भी बड़े कह जाता है। ऐसा तात्त्विक (उस काय को करने के सम्बन्ध से ही) किया

जाता है। गौणी और शुद्धाविषय विभिन्न मत-बताया जा चुका है कि सम्बन्ध के आधार पर लक्षणा की दो काटियाँ होती हैं—

(क) सादृश्य सम्बन्ध का लेकर चलने वाली लक्षणा को गौणी ना दिया गया है। इसमें विषय और विषयी के समान गुणों का आधार बनाया जाता है। यह मुख्याय और लक्ष्याय दोनों में ही रहता है। गुणों के इस आधार के कारण इसका नाम गौणी रखा गया है।

(ख) सादृश्य सम्बन्ध पर आधारित लक्षणा शुद्धा कह जाती है। यह सम्बन्ध काय कारण भाव तादृश्य भाव सम्बन्ध, स्व स्वामिभाव सम्बन्ध, अवयवावयविभाव, तथा तात्कर्म्यभाव सम्बन्ध से कई प्रकार का होता जाता है। इनमें गुणों का मिश्रण नहीं है। इससे इसे शुद्धा कहते हैं।

प्रभाकर के अनुयायी भीमासको के अनुसार गौणी और लक्षणा दोनों अलग अलग शक्तियाँ हैं। गिद्यानाथ ने दोनों की भिन्नता वाली यह बात स्वीकार नहीं की है। अगि तु मम्मट के समान ही अपना विचार व्यक्त किया है। मम्मट ने लक्षणा के छ भेद किये हैं पर तु इन भेदों के सम्बन्ध में मत भेद है। विचारको म माणिक्य चंद्र जयंत हरदत्त शर्मा का प्रथम वर्ण है। इनके अनुसार निम्नलिखित भेद है।



इस वर्गीकरण का समयन माणिक्य चंद्र ने संकेत टीका में किया है।<sup>१</sup> जयंत ने भी शुद्धा लक्षणा को दो प्रकार का माना है और उपचार मिश्रा के चार भेद करने को कहा है।<sup>२</sup> चणोरकर ने अपने मत की पुष्टि में निम्नलिखित तक दिये हैं -

- १ सा च द्विधा । शुद्धोपचार मिश्रा च । शुद्धा द्विधा द्विषोपचार मिश्रा इति उपचार मिश्रा द्विधा । संकेत टीका माणिक्यचंद्र ।
- २ शुद्धा लक्षणा द्विप्रकार मुक्ता । इदानी उपचार मिश्रा चतुर्भेदत्वेन निरूपयितुमाह जयंत ।

(१) आचार्य मम्मट ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि उपादान और लक्षण ये दोनों शुद्ध लक्षणा के ही भेद हैं क्योंकि इनमें उपचार का मिथण नहीं है।

(२) उपचार मिथ्या लक्षणा का सर्वत कथन काव्य का द्वितीय उल्लास में ११वीं कारिका में कर लिया गया है “सारांशः साध्यवसानिका।”

(३) इस कारिका में तु का प्रयोग व्यक्त करता है कि उपचार मिथ्या ही सारोपा लक्षणा हातो ह वह शुद्धा नहीं हो सकता ह।

(४) मुकुलभट्ट<sup>२</sup> का वर्गीकरण भी इसी प्रकार का है। मम्मट ने भी इन्हीं का अनुसरण किया है। आचार्य विश्वेश्वर ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है कि ‘शब्द विचार यापार’ नामक ग्रन्थ में मम्मट मुकुलभट्ट के मत से जिन अर्थों से सहमत नहीं थे, उनका उहाने खण्डन किया था, शेष जिन अर्थों में उनका मतभेद नहीं है उनका विवेचन मुकुलभट्ट के आधार पर कर दिया गया है। इसलिये लक्षण के इस विवेचन में भी काव्य प्रकाश पर मुकुलभट्ट की छाया पडी है।<sup>३</sup> अतः स्पष्ट है कि मुकुलभट्ट ने भी लक्षणा के ये ही छ भेद किये हैं।

(५) प्राचीन टीकाकारों ने माणिक्य चन्द्र और जयन्त ने भी इसी का समर्थन किया है। इसी से छ भेदों वाले इस वर्गीकरण को ठीक माना गया है।

(६) इस मत को न मानने वालों का वर्गीकरण दूसरे प्रकार का है। बेल्लाङ्कर महोदय का मत है कि काव्य प्रकाश की कारिका और वृत्ति के शब्दों का विश्लेषण करने से स्पष्ट है कि मम्मट ने कही पर भी उपचार मिथ्या लक्षणा का संकेत नहीं किया है अपि तु स्पष्ट रूप से गौणी और शुद्ध लक्षणा का अलग

१- उभय र्पाचेय शुद्धा उपचारेणामिधितत्वात् ।

१- का० प्र० दूसरा उल्लास ।

२ द्विविध उपचार । शुद्धो गौणश्च तस्माच्छुद्धाऽयमुपचारः ।  
अत्रहि गगत जाड्यमाद्यादिगुण सट्टजाड्यमाद्यादिगोणाद्  
वाहीके गोशब्द गोत्वयापचार । क्वचित्तु उपचारे शब्दोपचामेव  
मन्यन्त नार्थोपचारम् । तत्पुतमम् । शब्दोपचारस्यार्थोपचारविना  
भावित्वात् । एवमुपचार शुद्ध गौणभेदे द्विविधोऽभिहितः ॥  
मुकुलभट्ट ।

३ काव्य प्रकाश कारिका-हिंदी टीका पृष्ठ ६३

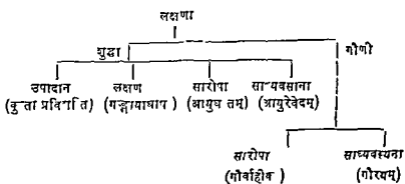
अलग उल्लेख किया है ।<sup>१</sup> ऐसी रूपा में इसका अथ गौणोपचार और गुडोपचार लेना उचित नहीं कहा जा सकता है ।

(i) मम्मट की वृत्ति में 'उभयरूपा चैव गुडोपचारेणामिच्छितत्वात्' वाक्य में उपचार के चार अर्थ भेदों का उक्त नहीं पर भी नहीं मिलता है । उपचार शब्द से साहित्य की प्रतीति भी यहाँ पर नहीं हो पाती है । "आयुरे वाघतम्" में आयु और घन में साहित्य सम्बन्ध का आभास तक नहीं है ।

(ii) 'सारोपा या तु यत्रातो विषयी विषयस्तथा,' कारिका में 'अथा' का अर्थ गुडोपचार बताया गया है, पर तु शब्द का वास्तविक अर्थ उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा का होना चाहिये । वृत्ति में भी उपचार लक्षणा का उक्त नहीं है । अतः अथा शब्द से उक्त अर्थ का ग्रहण करना समीचीन नहीं हो सकता है ।

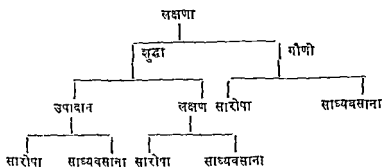
(iii) 'तु' का प्रयोग पद की पूर्ति के लिये माना जा सकता है ।

(iv) सिद्धांत सम्बन्धी अंतर होने से मम्मट के विचारों को मुकुल भट्ट का अनुकरण मानना ही अनुचित है । अतः ऊपर जो वर्गीकरण दिया गया है, उसे अनुचित कहने दृष्ट वेलाङ्कर महोदय ने उसे निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है —



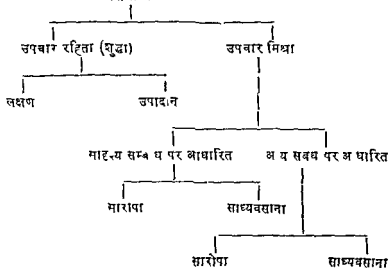
डा० सत्यव्रतमिह का विभाजन इसके कुछ भिन्न है । इस मत में गुडोपचार उपादान और लक्षण लक्षणा यथा भेद हैं । पुनः प्रत्येक के सारोपा और साध्यवसाना दो-दो भेद हैं । इस प्रकार गुडोपचार के चार और गौणी के दो भेद मिलकर कुल छ भेद हो जाते हैं ।

१ भेदाविमो च साहित्यात् सम्बन्धान्तरस्तथा । गौणी गुडो च विनेयो २१२ का० प्र०



इस प्रकार लक्षणा के छ भेद हो जाते हैं। ये सभी भेद प्रयोजनवती लक्षणा के हैं शुद्धा के नहीं। मेरे विचार से मम्मट के लक्षणा का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से होता है —

लक्षणा भेद



इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में निम्नलिखित तक दिये जा सकते हैं —

१ शुद्धा लक्षणा के दो भेद करने के उपरान्त उस प्रसंग के अंत में मम्मट ने कहा है कि ये दोनों भेद (उपादान और लक्षण) शुद्धा के ही हैं क्योंकि इनमें उपचार (साहचर्यातिशय के कारण भेद प्रतीति का स्थगन हो जाना) का मिश्रण नहीं है। इस वृत्ति भाग द्वारा दो बातें ज्ञात होती हैं —

क) लक्षणा के भेद के लिये उपचार का मिश्रण या अमिश्रण का होना



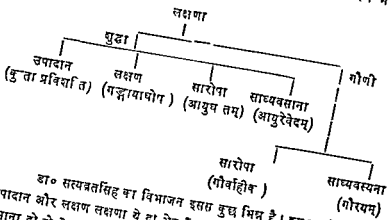
अलग उल्लेख किया है।<sup>१</sup> ऐसी रूपा में इसका अर्थ गौणोपचार और गुडोपचार लेना उचित नहीं कहा जा सकता है।

(i) मम्मट की वृत्ति में 'उभयस्था चय गुडा उपचारेणामिच्छितत्वात् चयम उपचार के चार अर्थ भन्ना का सङ्गत नहीं पर भी नहीं मितता है। उपचार शब्द से साहचर्य की प्रतीति भी यहाँ पर नहीं हो पाती है। 'आयुदे वाघतम्' में आयु और घन में साहचर्य सम्बन्ध का आभास तक नहीं है।

(ii) सारोपा या तु यनात्तो विषयो विषयस्तथा वारिका में अथा का अर्थ गुडा बताया गया है, पर तु इसका वास्तविक अर्थ उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा का होना चाहिये। वृत्ति में भी उपचार लक्षणा का सङ्गत नहीं है। अतः अथा शब्द से उस अर्थ का ग्रहण करना समीचीन नहीं हो सकता है।

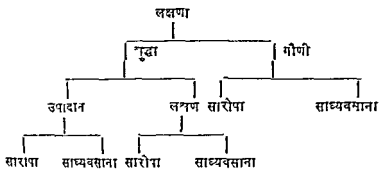
(iii) 'तु' का प्रयोग पद की पूर्ति के लिये माना जा सकता है।

(iv) सिद्धांत सम्बन्धी अंतर होने से मम्मट के विचारों की सुसुलभ अनुकरण मानना ही अनुचित है। अतः ऊपर जो वर्गीकरण दिया गया है उसे अनुचित कहते हुए वेलाङ्कर महोदय ने उसे निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है—

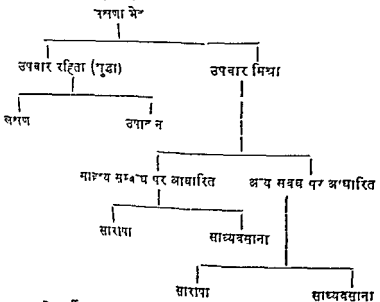


डा० सत्यव्रतसिंह का विभाजन इसमें कुछ भिन्न है। इस मत में गुडा के उपादान और लक्षण लक्षणा ये दो भेद हैं। पुनः प्रत्येक के सारोपा और साध्यवसाना दो दो भेद हैं। इस प्रकार गुडा के चार और गौणी के दो भेद मिलकर कुल छ भेद हो जाते हैं।

१ भेदाविधौ च साहचर्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा । गौणी गुडो च विधेयो २१२ का प्र०



इस प्रकार लक्षणा के छ भेद हो जाते हैं। ये सभी भेद प्रयोजनवती लक्षणा के हैं गुद्धा के नहीं। मेरे विचार से मम्मट के लक्षणा का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से होता है —



इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में निम्नलिखित ध्यान रखे जा सकते हैं -

१ गुद्धा लक्षणा के दो भेद करने के उपरान्त उस प्रसंग के अन्त में मम्मट ने कहा है कि ये दोनों भेद (उपादान और लक्षण) गुद्धा के ही हैं क्योंकि इनमें उपचार (माध्यमवर्तिग्य के कारण भेद प्रतीति का स्थान हो जाना) का मिथ्यण नहीं है। इस वृत्ति भाग द्वारा दो बातें स्पष्ट होती हैं —

क) लक्षणा के भेद के नियम उपचार का मिथ्यण या अमिथ्यण का होना

आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तो 'उपगारेणामित्रित्वात्' का महत्व नहीं रहता।

(ख) इस वाक्यांग से यह भी स्पष्ट है कि उपचार होने पर लक्षणा का दूसरा भेद होगा।

२ सारोपा या तु यप्रोत्तौ विषयोऽप्यस्तथा" कारिका म अ य का प्रयोग सभी टीकाकारों के अनुसार गुडात्मना के लिये ही माना गया है। 'तु' शब्द निश्चयात्मक है। इसका प्रयोग म अ अह का स्थान नहीं रह जाता है। इसी के दो भेद सारोपा और साध्यवसाना हैं।

३ इस प्रसंग पर मम्मट ने कहा है कि साहचर्य सम्बन्ध पर और साहचर्यपर सम्बन्ध पर प्रथम लक्षणा के गोणी और गुडा भेद सम्भवा चाहिए। यहाँ यथाश्रम अलवार द्वारा यह व्यक्त होता है कि साहचर्य सम्बन्ध पर आधारित लक्षणा के दोनो भेद गोणी और अय सम्बन्ध पर आधारित लक्षणा के दोनो भेद गुडा कहे जाते हैं।

४ इसी कारिका में 'गोणी तथा 'गुडी' का प्रयोग हुआ है।<sup>१</sup> ये दोनों दो बचन में प्रयुक्त हुए हैं और इसके पूर्व सारोपा और साध्यवसाना भेद किया जा चुका है। इससे स्पष्ट है कि गोणी और गुडा दोनो के ही ये दोनों भेद हैं। इस प्रकार दो भेद पहले के और चार इन भेदों को मिलाकर कुल लक्षणा के छ भेद हो जाते हैं।

५ मम्मट ने लक्षणा के ६ भेदों का स्पष्ट निर्देश किया है। अतः लक्षणा का यह भेद अधिक समीचीन है।

६ लक्षणा के जो उदाहरण दिये गये हैं, उनसे भी उपचार मिथ्या और उपचार रहितवाली भावना स्पष्ट होती है क्योंकि वहाँ पर भी वही साहचर्य सम्बन्ध की और वही अय सम्बन्ध की चर्चा की गई है।

अतः स्पष्ट हो जाता है कि लक्षणा के छ भेद होते हैं। इनमें गुडा के दो भेद लक्षण और उपादान तथा उपचार मिथ्या के चार भेद होते हैं। यह भेद अधिक तक सम्मत भी हैं। ये सभी भेद प्रयोजनवती लक्षणा के हैं। इन प्रयोजनवाली बोध का जिस शक्ति द्वारा होता है, उसे व्यञ्जना व्यापार कहते हैं। इसका बोध अमिथा, लक्षणा, तात्पर्यो अथवा विगिण्ट लक्षणा में से किसी के द्वारा नहीं हो सकती है। इस विचार का निराकरण आचार्य मम्मट ने द्वितीय उल्लास की कारिका १४ से १८ तक में किया है और प्रयोजन बोध में व्यञ्जना व्यापार की स्थापना की गई है।

१ भेदाविमो च साहचर्यात् सम्बन्धा तरतस्तथा ।

गोणी गुडी च विनेयो लक्षणा तेन पदविद्या ॥ ३१२

## व्यञ्जना विचार

### व्यञ्जना का स्वरूप

व्यञ्जना का सर्वप्रथम उल्लेख अपनी सम्पूर्ण प्रधानता के साथ छव्यालोक्कार ने किया है। उन्होंने इसे समझाने के लिये उत्तम काय में एक प्रतीयमान अथ का होना आवश्यक माना है। 'प्रतीयमान अथ कुछ अन्य ही होता है जो महाकवियों की वाणी में पाया जाता है। किसी सक्ष्णी का सौंदर्य जैसे उसने अवयवों से भिन्न एक अलग सत्ता वाला ही होता है, उसी प्रकार प्रतीयमान अथ भी स्वतंत्र सत्ता वाला होता है।<sup>१</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि परम्परा से इस प्रतीयमान अथ पर विचार होता रहा है, क्योंकि बिना मौखिक अथवा सङ्गीतमय लिखित आधार के छव्यालोक्कार को भी इसकी प्रेरणा का न मिटना ही सम्भव माना जा गया। छव्यालोक की प्रथम कारिका में ही अनन्वयन न बतलाया है कि काय की आत्मा ध्वनि है ऐसा विद्वानों के द्वारा कहा गया है।<sup>२</sup> इन कारिका में 'सुरिभिः कथित' इस वाक्यांश का प्रयोग है। प्रश्न है कि ये कौन थे? तथा इस वाक्यांश से किनकी ओर संकेत है।

इसी कारिका को व्याख्या करते हुए कहा गया है कि वयाकरणों ने इस ध्वन्यात्मकता की ओर सर्वप्रथम ध्यान धारणित किया है तथा व्याकरण सब विद्याओं का मूल है। अतः इस ध्वनि माय का प्रचार यो ही नहीं किया जा रहा है, अपितु परम्परा से इसको प्रकट किया गया है। वयाकरणों का यही सिद्धांत 'स्फोटवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। मम्मट ने भी प्रथम उल्लास में कहा है कि 'बुध अर्थात् वयाकरणों ने प्रधानभूत स्फोट रूप व्यंग्य की अभिव्यक्ति

१ प्रतीयमान पुनरप्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति स्वाव्यभिवागनासु ॥

छव्यालोकप्रचयेत १/४

२ कायपरमात्मनिरितिबुधय समाप्तासुव १/१ - शालोक

करान म समथ शब्द क लिय ध्वनि का व्यवहार किया ह । तदनंतर उनके मत का अनुसरण करने वाले अथ साहित्य शास्त्र क आचार्यों ने भी वाच्याय को गौण बना देने वाले तथा यग्याय की अभिव्यक्ति कराने मे समथ शब्द और अथ दोनो के लिय ध्वनि शब्द का प्रयोग किया ह ।<sup>१</sup> महाभाष्यकार ने भी इस ध्वनि पद का प्रयोग किया है” अथवा प्रतीतपदाय को लोक ध्वनि शब्द इत्युच्यते । तद्यथा शब्द मा कुरु, शब्द या कार्पी, शब्दवायय माणवक इति । ध्वनि कुवनेवमुच्यते । तस्माद् ध्वनि शब्द<sup>२</sup>

अत स्पष्ट ह कि स्फोट सिद्धात से ही इसको मूल प्रेरणा प्राप्त हुई है । ‘स्फटति अथ वस्मात् स स्फोट’ जिससे अथ क स्फुरण प्रताति हो, वह स्फोट कहा जाता है । याकरण मे नित्य व अल्पशब्द शब्द क रूप म स्फोट की कल्पना की गइ है । वण, पद, वाक्य आदि स्फोट रूप इसी यग्य के व्यञ्जक हैं । वयाकरणों ने शब्द क वणनात्मक और ध्वयात्मक य दो भेद किये है । इन पूर्व पूर्व ध्वनि क उच्चारण क साथ वणनात्मक ध्वनि तो नष्ट हो जाती है, पर तु ध्वयात्मक शब्द ही अल्प रूप मे पद वाक्यादि का ज्ञान कराता है । इसी ध्वनि से यञ्जित होने वाला अल्प तत्व स्फोट’ कहा जाता है । साहित्यकारों का भी प्रतीयमान अथ पद पदाश अथ आदि स अभिव्यञ्जित होता है । अत व्यञ्जना की कल्पना का मूल इहा वयाकरणो म ही पाया जाता है । जैसे अल्प और नित्य रूप स्फोट पहले स ही वतमान रहता ह और वण, पद वाक्य आदि दीपक द्वारा घट की याति क समान उसे यञ्जित कर देत हैं । उसी प्रकार सहृदय के हृदय म वतमान यग्याय की प्रताति व्यञ्जना व्यापार युक्त शब्द या अथ अभिव्यञ्जित कर देता ह ।

उपर मम्मट की पक्ति को उद्धृत करते हुए कहा गया था कि ‘त मतानुसारिभिरपरपि’ अर्थात् उन वयाकरणो के मत का अनुसरण करने वाले अथो क द्वारा भी इस ध्वनि की चर्चा की गई ह । इन अथो म विनोपत भामह और उदमत का नाम लिया जा सकता ह । इन दोनों न ध्वनि माय का सकेत अवश्य किया ह परंतु उसका लक्षण नहीं किया । इनक मत से गुण वृत्ति ही ध्वनि ह । ध्वनिकार न भी इसका समर्थन करते हुए कहा है कि

१ बुधव याकरण प्रधानभूतस्फोटैरूप व्यग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहार श्रुत । ततस्तमतानुसारिभिरपरपि यग्यायवित वाच्यव्यग्यव्यञ्जक शमस्य शब्दायुगतस्य ।

२ महाभाष्य पतञ्जलि ।

वा० प्र० पृ० २६

“अये त ध्वनिसन्धित का यात्मान गुणवृत्तिरित्याहू”<sup>१</sup> अर्थात् दूररे लोग का यात्मा उस ध्वनि को गुणवृत्ति कहते हैं ।

इसी ध्वनि की चर्चा करते हुए भामह ने इसे अभिधानपद से स्पष्ट किया है ।<sup>२</sup> उद्भट के अनुसार यही ‘गुणवृत्ति’ है ।<sup>३</sup> तथा वामन ने सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्ति’ वाक्य में लक्षणा द्वारा ध्वनि भाग का स्पष्ट किया है । इस प्रकार भामह के काव्यालंकार में और उद्भट के विवरण में ‘गुणवृत्ति’ प्रयोग का देखकर ध्वनिकार ने ‘भाक्तमात्सम्य’ लिखा है । इस भक्ति का स्पष्टीकरण तीन रूपा में किया गया है । (१) मुख्याथवाधरूप मे मुख्याथस्य भाने भवन” (२) सामिप्यादि सम्यक् रूपेण—भज्यते सेवते पदारथेन इति सामिप्यादि धर्मो भक्ति । (३) प्रयोजनं ह्यस्य—प्रतिपाद्यते शक्य पावनत्वाद् श्रद्धाविगयो भक्ति—नत आगत भावत । अतः स्पष्ट हुआ कि मुख्याथ वाधादि तीनों मूल तत्त्वों से जिस अर्थ की प्रतीति होती है । उस लक्ष्याथ का ही भावत कहत है । इस प्रकार इस ध्वनि का प्रयोग परम्परा सम्मत है और इस प्रवाद मात्रत्व नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यह ध्वनि केवल लक्षणवताओं को ही नात नहीं है लक्ष्य अर्थों में ता सरत्र यही सहृदय-जालहादक का य तत्व प्राप्त हो सकता है । अतः ध्वनि को स्विति परम्परा सम्मत है ।

इस प्रकार मुख्याथ और लक्ष्याथ से भिन्न एक व्यङ्ग्याथ की रक्षा माननी पवती है । इस व्यङ्ग्याथ की प्रधानता से ही ध्वनि ही सकती है । स्मरण रहे कि यह यग्याथ वाक्याथ की अपक्षा अधिक चमत्कार युक्त होता है और इसी का विद्वानों ने ध्वनि कहा है ।<sup>४</sup> यथास्मरणं क अनुभार स्फोट रूपेण ब्रह्म का व्यञ्जित करने वाला और जखणं ग” और अर्थ ही ध्वनि है साहित्यकारों ने इसी ध्वनि का आधार लेकर यञ्जना यापार क द्वारा प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करने वाले का यादि का ध्वनि कहा है । अतः प्रकट है कि जिसमें प्रतीयमान

१ ध्वनानोक पृष्ठ १२

२ सादृश्यात् अभिधानाथा इतिहासाश्रया कथा । काव्यालंकार ।

३ गणानामभिधाने अभिधाव्यापारो मुख्या गुणवृत्तिश्च ।  
“विवरण—उद्भट ।

४ यनो लक्षणवृत्तामव स क्वच न प्रमिद्ध तस्येनु परिभ्यमाणे स एव सह पद्धादकारिकायतत्वम् । ध्वन्यालंकार—पृष्ठ ५४

५ इदं उच्यते गायि ।। यस्य वाच्यं द ध्वनिबुध कथितं वा०  
प्र० १।४

अर्थ हो, उस वाक्य की ध्वनि कर्ता ध्वनि, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, अपितु जहाँ पर प्रतीयमान अर्थ की प्रमाणात्ता ही तथा जहाँ जहाँ अर्थ की तथा अर्थ अपने आगकी गीण करने प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति करता है वहाँ ध्वनि होगी<sup>१</sup> इस परिभाषा से तीन बात प्रतीत हूँ (१) वाक्य और अर्थ दोनों का ध्वनि हो सकता (२) मुद्राद्य का अर्थमान होना (३) प्रतीयमान अर्थ की मुख्यता । इस प्रकार ध्वनि में एक प्रतीयमान अर्थ की मुख्यता होती है जिस 'काव्याराम' कहते हैं । इस ध्वनि का वाक्य जिस वृत्ति द्वारा सम्भव है उस शब्द का व्यञ्जना व्यापार कहा है अर्थात् 'अभिधाशक्ति व द्वारा प्रतीत अर्थ सहृदय श्रोता की प्रतिभा की सहायता से एक नवीन अर्थ का सातित करता है, इस नवीन अर्थ का सातित करने वाली शक्ति व्यञ्जना है<sup>२</sup> इससे वाक्य का वास्तविक सीद्धय का स्थान सहृदयों का ध्यत होता रहता है । उक्त वाक्य में मुख्यार्थ से अतिरिक्त एक अन्य अर्थ का व्यक्त करने वाला शब्द का व्यापार व्यञ्जना कहा जाता है । सम्मत् न सपूण रूप में व्यञ्जना की वार्द्ध परिभाषा नहीं बताई है, अपितु अभिवामूला<sup>३</sup> और लक्षणा मला व्यञ्जना का स्वरूप का निर्धारण अलग अलग किया है । आचार्य विश्वनाथ का लक्षण अधिक समुचित है । "सब अनुसार 'अभिधा और लक्षणा द्वारा वाक्य सम्पन्न करके सात हो जान पर जिस स्थान से किसी व्यापार द्वारा दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ व्यञ्जना शक्ति ही मानो जायगी ।"<sup>४</sup>

ध्वनि और व्यंग्य—ध्वनि ही पर व्यंग्य अवश्य होगा जहाँ ध्वनि महाविषय और व्यंग्य लघु विषय है । जहाँ व्यंग्य होगा वहाँ ध्वनि जरूर्य होगी ऐसा नहीं कहा जा सकता और ध्वनि की स्थिति से व्यंग्य का होना अनिवार्य है । इस व्यंग्य का बोध जिस शक्ति (शब्द की) द्वारा होता है उसे व्यञ्जना व्यापार कहते हैं इस प्रकार व्यंग्य की यह सत्ता सतत प्रत्याहित होती रही है ।

१ यथाय शब्दा का समयसुपसजनी वृत्त स्वाधी यज्ञत का य विशय सध्वनिरिति सूरिभि कथित ध्व मा० १/१३

२ तच्छब्दव्युपजनिताध्वनिसमपविनित प्रसिपद्य प्रतिभासहायाथ सातन शक्ति यञ्जकत्वम्—का यानुशासन १/२० पृष्ठ ५६, आचार्य हमध = सूरि ।

३ का० प्र० द्वि० उ०—पृष्ठ ५८, ६३

४ विरतास्वभिधायास्तु यथाया बोधत पर । सा वृत्ति यञ्जनानाम् सा० ६० परि० २ पृष्ठ ७३





ज्ञान द्वारा 'व्यग्राथ का बोध होता है, इसमें प्रतिभा के साहाय्य की आवश्यकता मानी गयी है। इस प्रकार जन्मांतर के संस्कार का भी मनेत प्राप्त होता है।<sup>१</sup>

गदाधर—गदाधर ने अपने 'शक्तिवाद' में केवल अभिधा और लक्षणा का ही उल्लेख किया है। परंतु जहां उनके टीकाकारों में कृष्णभट्ट गौणी और व्यञ्जना का अतर्भाव लक्षणा मंतरत है।<sup>२</sup> वहीं पर माधवी टीका में व्यञ्जना को एक अलग शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।<sup>३</sup> और कृष्णभट्ट के शक्ति विभाग का खण्डन किया गया है। परंतु सिद्धांतपक्षा इसका न मानते हुए व्यग्राथ ज्ञान भी पूर्ण की अभिधा शक्ति के ज्ञान से ही मानता है अर्थात् वाच्यार्थ ज्ञान ही व्यग्राथ का कारण है। अतः मिथ्या हुआ कि जब अभिधा से अलग किसी अन्य वस्तु से प्रतीयमान अर्थ का बोध हो ही नहीं सकता है और अभिधा ही सार व्यापारों में रहती है तो व्यञ्जना का अलग अस्तित्व मानना उचित नहीं है।<sup>४</sup> संहृत्यों में अभिधा के आधार पर व्यञ्जना को माना है परंतु न्यायिकों के अनुसार प्रतीयमान अर्थ का बोध व्यञ्जना नामक शक्ति से न होकर संहृत्य के मन की कल्पना से होता है।<sup>५</sup>

इस प्रकार प्रकट हो गया कि व्यञ्जना के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं: (१) न्यायिकों या मीमांसकों द्वारा उसका न मानना। (२) साहित्यिकों या आलंकारियों द्वारा उसकी निश्चिन्ता स्पष्ट है कि साहित्यिकों का साक्षात् सम्बन्ध भावजगत से है और न भावा के प्रतीक बनकर ही हमारे समक्ष आते हैं। अतः शब्द द्वारा भावा का मानस बोध साहित्यिकों का अनिच्छा अंग है। उक्तम काय की कसौटी भी साहित्यिकों के मत से व्यञ्जना की

१ एव च शक्तिरेतन्म गृहीतवाच्य वाचिना व्यञ्जना तु जन्मांतर गृहिता इत्यपि शक्तिरस्या भेदकम् । व० शि० ५—

२ एव च गौणी व्यञ्जनया पृथग्व्यक्तित्वममुक्तं तया लक्षणायामत भविसम्भवात् (शब्द शक्ति टीका मञ्जूषा) पृ० १

३ एतद्विभाजनमनुपपन्नं, व्यञ्जनाया अतिरिक्तव्यक्तित्वात् ।

शक्तिवाद माधवी टीका पृ० २

४ व्यञ्जनावृत्यत्र 'यशाब्दत्वव्यस्य कायतावच्छेदककोटी गौरवात् ।  
माधवी टीका पृ० २

५ मनसव तादृगबोध स्वीकारात् । माधवी टीका पृ० २

प्रधानता में ही है।<sup>१</sup> दाशनिवो का काम तो केवल प्रमाण की सिद्धि में ही है। अतः उनका काम व्यञ्जना के बिना भी चल सकता है, परन्तु साहित्यिक के लिये इसकी अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है। नयायिका के मत से श्लेष द्वारा जहाँ दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, उसका ज्ञान भी अभिधा द्वारा ही होता है। अतः प्रतीयमान अर्थ के लिये अभिधामूला व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है परन्तु सहृदयो व अनुभवों से प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि अपने आप ही हो जाती है। भेद करके इतना ही है कि आल्फारिक दसना प्रतीति व्यञ्जना नामक वक्ति से मानता है, परन्तु नयायिक प्रतीयमान अर्थ का दाध मन द्वारा मानता है और सहृदय के मन की कल्पना का ही प्रधान मानता है। "मनसव तादृशबोध स्वीकारात्मः।"<sup>२</sup> इस प्रकार मानस बोध का बहुत अधिक महत्त्व होता है।

साहित्यशास्त्रियों के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों का गौण ही ज्ञान पर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति शब्द के जिस यापार द्वारा होती है उसका व्यञ्जना माना गया है। वस्तुतः इस गति द्वारा एक गूढ अर्थ का ज्ञान सहृदय को हो जाता है। जो मुख्यार्थ और व्यंग्यार्थ में ही छिपा रहता है। वह जय सहृदय के अन्वेषण का विषय होता है। इस प्रकार अभिधा और लक्षणा द्वारा जिस अर्थ का प्रकाशन नहीं हो पाता है उसी का प्रकाशन व्यञ्जना द्वारा होता है। हमचन्द्रसूरि ने कहा है कि अभिधागति के द्वारा प्रतीत अर्थ सहृदय श्रोता की प्रतिभा की सहायता से एक नवीन अर्थ को चोत्तित करता है। इसी नवीन अर्थ को बताने वाली गति व्यञ्जना है।<sup>३</sup> इस परिभाषा से कई बातें प्राप्त होती हैं — (१) अभिधाशक्ति का सहाय्य (२) सहृदय की प्रतिभा का सहाय्य (३) वाक्य भिन्न एक नवीन अर्थ की अभिव्यक्ति (४) इसी नवीन अर्थ को चोत्तित करने वाली गति का व्यञ्जना कहते हैं। (५) वाच्य अर्थ व्यंग्यार्थ प्रतीति का साधन हुआ।

व्यञ्जना की स्थापना करने वाले मम्मट के काव्य प्रकाश का अध्ययन करने से मुझे पता हुआ कि इन्होंने व्यञ्जना के स्वरूप का निधारण कही पर

१ इत्मुत्तममतिगामिनि व्यंग्ये वाच्याद् द्यनिबुधवधित,—

कव्य प्रकाश प्र० उ० १

२ माधवा टीका पृ० ३

३ तन्द्यस्त्युजनितावर्थावगमपवित्रितप्रतिवत्प्रतिभा सहाय्यचोत्तन गतिर्यञ्जकत्वम् । काव्यशास्त्र १/२० पृ० ५६

भी नहीं किया है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि सामान्य ज्ञानी में अपने शब्द का निर्माण करने वाला अक्षर्य  $\Rightarrow$  तन्वी व्यञ्जना विरोधी मतो का सङ्गठन एवं निराकरण करने में प्रबलतम तर्कों का दसकन में समर्थ हो सका है उसी की दृष्टि से व्यञ्जना की परिभाषा कम छूट गयी? उ होने व्यञ्जना के स्वरूप का निर्धारण न करते हुए केवल शास्त्री व्यञ्जना के भेदों का ही बणन किया है और इस सम्प्रदाय में निम्नलिखित बात बतलाई गयी हैं —

(१) अभिधामूला शास्त्री व्यञ्जना में सयोगादि नियामक हेतुओं की महत्ता होती है।

(२) इनका द्वारा मुख्याय के एक अर्थ में निर्धारित हो जाने पर ही एक दूसरे अमुख्याय अर्थ की प्रतीति होती है।

(३) लक्षणा में प्रयोजन का बाध करान में व्यञ्जना व्यापार ही रहता है, शब्द की अर्थ वृत्ति द्वारा यह कार्य सम्भव नहीं है।<sup>१</sup>

(४) व्यञ्जनवृत्ति, अभिधा जति स पूणत भिन्न एवं दूसरो ही वृत्ति है और इसका समावेश अर्थ वृत्तियों में नहीं हो सकता है।

(५) कोई भी गणित अभिधा व्यञ्जना या तात्पर्या एक से अधिक अर्थों की प्रतीति कराने में समर्थ नहीं हो सकती है, क्योंकि उसकी शक्ति एक अर्थ का बोधन कराने के उपरांत क्षीण हो जाती है अतः दूसरे या तीसरे अर्थ का बोधन कराने का नियम अर्थ गणितया का मानना ही पड़ता है।

(६) व्यापार की प्रतीति वाच्याय के प्राद अथवा लक्ष्याय के साथ भी हो सकती है। यह आवश्यक नहीं कि लक्षणा का साथ ही व्यापार की प्रतीति हो।

(७) व्यञ्जना के द्वारा अर्थ का बाध होने में गण और अर्थ गणों का साहचर्य बना रहता है। अर्थात् शास्त्री व्यञ्जना में अर्थ की गहराई और और आर्थो व्यञ्जना में गण की गहराई बना रही है।

(८) व्यञ्जना शब्द की ही गणित है अर्थ की नहीं, फिर भी जिस वाक्य में गण प्रमाण से शब्द काई अर्थ गुण विगी अर्थ अर्थ को व्यञ्जित करता है वही अर्थ व्यञ्जन है और लक्षणा अर्थ का साहायक मान है।<sup>२</sup> अर्थात् शब्द की प्रतीति ही वाक्य अर्थ है व्यञ्जन शब्द।

१ का० प्र० दि० उ० 'मह्य प्रतीति

२ का० प्र० त० उ० ३/२३ पृ ८९।



## व्यजना-भेद

व्यजना का स्वयं निर्धारित हो जाने के उपरांत उसमें भेदों का प्रश्न हमारे समक्ष आता है। आचार्य मम्मट के काव्य प्रकाश में इसका प्रमुख दो भेदों का ज्ञान होता है। (१) शास्त्री व्यजना और (२) आर्षी व्यजना। प्रथम इन दोनों पर विचार किया जायगा।

शास्त्री व्यजना शास्त्री व्यजना के दो भेद किये गये हैं। इन दोनों में प्रथम गद्य का आधार ग्रहण करता है और दूसरे का रूप लक्ष्य गद्य पर निर्भर रहता है। वाच्यार्थ को यत्नान्तर में गद्य की अभिधा शक्ति एक लक्ष्यार्थ को यत्नान्तर में लक्षणा शक्ति अपना कार्य करती है। इसी दो शक्तियों के आधार पर शास्त्री व्यजना के दो भेद अभिधामूला और लक्ष्यामूला शास्त्री व्यजना किये गये हैं।

अभिधामूला शास्त्री व्यजना के दो भेदों में सदैव ही यद्यपि अथवा अथवा का प्रयोग होता है अर्थात् प्रयुक्त शब्दों में श्लेष का ज्ञान अनिवार्य है। इसी रूप का आधार पर भी जब अपने आप प्रकट हो जाते हैं। इन दो अर्थों में एक अथवा अथवा का अभिप्रत होता है और वही प्रस्तुत अथवा प्रकरण सम्मत अथ माना जाता है। यहाँ पर सयोग विप्रयोगादि नियामक हनुओं के कारण अभिधा एक अर्थ में नियंत्रित हो जाती है और इसी नियंत्रित अर्थ का वाच्यार्थ कहा जाता है। अभिधा का एकाध में नियंत्रित हो जाने के उपरांत भी शब्द के द्वयार्थ होने के कारण एक अर्थ अर्थ की प्रतीति भी सहृदय विज्ञ का होती रहती है। यह दूसरा अथ अप्राकरणिक अथवा प्रस्तुत प्रसंग के अनुकूल न होने से कवि का अभिप्रत अर्थ नहीं होता है फिर भी उसकी प्रतीति होती रहती है। इस प्रकार प्रकट हो जाता है कि सयोगादि नियामक हनुओं के द्वारा अभिधा का एकाध में नियंत्रित हो जाने पर भी अप्राकरणिक जिस दूसरे अर्थ का ज्ञान होता रहता है उसमें गद्य की अभिधा शक्ति काम नहीं कर सकती है, क्योंकि उसका एकाध में नियंत्रण हो चुका है। अतः यहाँ पर अभिधामूला शास्त्री व्यजना

का ही व्यापार माना जायगा। आचार्य मम्मट ने भी कहा है कि “अनेकायक शब्द के वाचकत्व के एक अर्थ में सयोगान् नियामक हेतु जो द्वारा नियंत्रित हो जान पर भी जब दूसरे अर्थ का ज्ञान होता है, तो उसमें व्यजना का ही व्यापार माना जाता है।” इस प्रकार व्यक्त हो जाता है कि व्यजना के इस भेद में मुख्यतः स अतिरिक्त एक अमुक्याद्य का होना आवश्यक है और इसमें जब अभिधा और लक्षणा अपना कार्य समाप्त करके शान्त हो जाती है, तभी व्यजना शक्ति का व्यापार होता है।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि किसी भी शक्ति द्वारा एक से अधिक अर्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः एक ही शब्द द्वारा दो या अधिक अर्थों के ज्ञान के लिए व्यजना जसा शक्ति को मानना पड़ता है। इसमें व्याख्या के ठीक बाद अभिधामूला शब्दी व्यजना से व्याख्या का बोध हो जाता है। इसमें अभिधा और व्यजना केवल दो शक्तियों का ही व्यापार रहता है।

व्यजना द्वारा इस व्याख्या के बोध के लिए शब्दी और अर्थों दो भेद मान लिए जाने पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि व्यजना तो शब्द की शक्ति है तो उसका भेद केवल शब्दी ही होना चाहिए अर्थों नहीं? यदि अर्थों भेद मानें तो उसे शब्द की शक्ति नहीं कहेंगे, अपितु अर्थ की ही शक्ति उसे माननी चाहिए। इस प्रश्न का समाधान आचार्य मम्मट ने करते हुए कहा है कि ‘शब्द प्रमाण से गम्य अर्थ जहाँ अर्थ तर को व्यक्त करता है, वहाँ अर्थ का व्यञ्जकत्व होते हुए भी शब्द का सहकारित्व रहता है?’ और इसी प्रकार शब्द के व्यञ्जकत्व के संग अर्थ का सहकारित्व रहता है। भाव यह है कि जहाँ अर्थ व्यञ्जक होता है, वहाँ शब्द का सहकारित्व और जहाँ शब्द-व्यञ्जक हो वहाँ अर्थ का सहकारित्व बना रहता है। इस प्रकार शब्दी या अर्थों किसी भी भेद में शब्द और अर्थ दोनों का सहकारित्व बना रहता है।

अभी बताया गया है कि अभिधामूला शब्दी-व्यजना में शब्द का द्वयधक होना आवश्यक है परन्तु लक्षणामूला शब्दी व्यजना में उसका द्वयधक

१ अनैकायस्य शब्दस्य बावकत्व नियंत्रित ।

सयोगाद्यरवाभ्याधधीशुद् व्यापृतिर्यजनाम । का० प्रकाश

२ शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्था तर यत ।

अर्थस्य व्यञ्जकत्व तन् शब्दस्य सहकारिता ॥

होना आवश्यक नहीं है। अभिधामूला के दो अर्थों में एक वाच्य अर्थ होता है और दूसरा व्यय्य अर्थ होता है। उसमें शब्द का अधिक महत्त्व मान के कारण ही इसे शाब्दी व्यञ्जना कहा गया है। अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना में कुछ आवश्यक तत्व होते हैं, उह भी समझ लेना समीचीन होगा।

शब्द— व्यञ्जना के अभिधामूला शाब्दी अर्थ के तीन आवश्यक तत्व हैं। (१) शब्द को अनेकाधिक होना चाहिए। (२) उस शब्द की अभिधागति प्रकरणादि के कारण एक अर्थ में नियमित हो जानी चाहिए। (३) उसके नियमित हो जाने पर भी सदृशों का अपनी प्रतिभा के कारण एक अर्थ अथ अप्राकरणिक अर्थ का ज्ञान होना चाहिए। यदि दोनों ही अर्थ प्रकरण सम्मत हो जाय, तो वही व्यञ्जना न होकर श्लेष अलंकार माना जाता है और यह व्यय्य रूप न होकर वाच्यरूप ही होगा। ध्यान देने की बात यह है कि अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना में एक अर्थ प्राकरणिक और अर्थ अथ अप्राकरणिक होना चाहिए। मम्मट द्वारा दिए गये उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण किया जायगा।

इस उदाहरण<sup>१</sup> में अर्थ स्पष्ट दोस पदों में हैं। इनमें पहला अर्थ राजा परक प्रकरण सम्मत अर्थ है और इसी अर्थ को व्यक्त करता कवि का अभिप्राय अर्थ है। यह अर्थ शब्द की अभिधागति द्वारा हम प्राप्त हो जाता है। अभिधा द्वारा इस राजा परक अर्थ का ज्ञान हो जाने पर भी एक दूसरा अप्राकरणिक अर्थ हाथी परक प्रतीत होता है। इस अर्थ का बताना कवि का उद्देश्य नहीं है, फिर भी शब्दों के लघुत्व होने से एक दूसरे अर्थ का भ्रम करने काप हो जाता है। यहाँ पर अभिधाशक्ति द्वारा राजा परक अर्थ में जब प्रयुक्त शब्दों का नियन्त्रण हो जाता है, तो हस्ति परक दूसरे अर्थ का ज्ञान पुनः इसी शक्ति द्वारा सम्भव नहीं हो सकता है। साथ ही यहाँ श्लेष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि श्लेष में दोनों ही अर्थ प्राकरणिक होते हैं। इस उदाहरण में प्रथम अर्थ प्राकरणिक और द्वितीय अर्थ अप्राकरणिक है। अतः इस द्वितीय अर्थ को बताने में निम्नलिखित शब्दों की अभिधाशक्ति न होकर व्यञ्जना शक्ति ही होगी। इन दोनों अर्थों का स्पष्टीकरण निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है।

राजापरक अर्थ— वह राजा भद्र आत्मा वाला था, उस पर आश्रमण करना कठिन था। विगत शरीर वाला उन्नत मन में उत्पन्न तथा उसने शार्णो

१ मत्स्यपुराण दुरधरोत्तनाविनाशकान्तक कृत गिरीशुद्धप्रहस्य।  
यस्यानुसृतगत परवारणस्य, दानाम्बुमेक मुमग सतत  
करोमन् ॥

का सग्रह अथवा अभ्यास कर रखा था। जिसकी गति अप्रतिहत थी। शत्रुओं का रोकने वाला था। उसका हाथ दान के जल से सदैव अभिषिक्त रहता था।”

‘राजापरक’ इसी अर्थ को बताना कवि का उद्देश्य है अर्थात् राज विषयक रति का वर्णन ही कवि करना चाहता है और यही प्राकरणिक अर्थ भी है, फिर भी एक दूसरे हस्तिपरक अर्थ का भी जो अप्राकरणिक है—ज्ञान होता है।

हस्तिपरक अर्थ—वह हाथी अच्छी जाति का था, उस पर चढ़ने में कठिनाई होती थी। शरीर विशाल एवं बांस के समान उन्नत था। उसने भ्रमरों का सग्रह कर रखा था अर्थात् भौरे उमके मस्तक पर मडराया करते थे। उसकी म मन्थर गति थी तथा उमका सूँड सदैव मद जल के सेव से सुशोभित होता रहता था।

इस उदाहरण से प्राप्त दोनों ही अर्थों में साधकता प्रतीत होती है, परन्तु ‘मद्रात्मा, सुरधिराह वगैरत वृत शिलीमुख सग्रहस्य’ आदि प्रयुक्त शब्दों का नियंत्रण राजापरक एकाग्र म हा जाता है फिर भी हस्तिपरक दूसरे अर्थ की प्रतीति भी होती रहती है। इसी से यहाँ व्यजना का व्यपार माना जाता है।

प्रकरण की महत्ता—उपयुक्त पक्तियों में अभिधामूला व्यजना की द्वयधकता का समर्थन किया गया है। साथ ही प्राकरणिक एवं अप्राकरणिक अर्थ का भी संकेत किया गया है। यहाँ यह प्रश्न है कि व्यजना शक्ति द्वारा अर्थ का ज्ञान होने में क्या प्रकरण का भी महत्व है? विचार करने से ज्ञात होता है कि बबता, बौद्धा, देग, बाल, काकु वाक्य, वाच्य, अर्थ सन्निधि आदि का अत्यधिक महत्व रहता है और व्यजना बोध में इनकी सहायता अनिवार्य मानी जाती है। आचार्य मम्मट न भी इसका समर्थन आर्षी व्यजना के प्रकरण में किया है<sup>१</sup> और इस सम्बन्ध में एक सम्पूर्ण उल्लाम ही अलग से लिखा गया है।

इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि प्रकरण का ज्ञान होने पर ही सहृदय जब उससे सम्मत अभिधाशक्ति द्वारा श्रुत्याथ की संगति बटा लेता है, तभी उसे व्यग्याय का भी ज्ञान होता है।

१ वक्त बोधय काङ्क्षुना वाक्यवाच्यान सन्निधे

प्रस्ताव देश कालादेशैर्गिष्टयात प्रतिमाजुपाथ ।

योऽधस्यापयथीहेतु व्यापारो व्यक्तितरेक्षता । वाच्य प्रकाण



आचार्य मम्मट ने वर बोधव्य आदि का वचन आर्यों व्यञ्जना के प्रसंग में किया है। विरचनाय न भो दमता ममचन किया है तो क्या गार्गी व्यञ्जना में इसकी महत्ता नहीं है? प्रदीप टाका कार गोविन्द ठाकुर न बताया है कि आर्यों व्यञ्जना में तो इसकी अपा रहती ही है, परन्तु गार्गी व्यञ्जना में भी कभी कभी इसकी आवश्यकता प्रतीत होती है। श्री भोलाशंकर व्यास न अपने गोघ्न अथ में लिखा हरि हमार मतानुसार किमी भा प्रकार की व्यंग्याय प्रतीति में प्रवरण की महत्ता माननी ही पड़ेगी। व्यंग्याय प्रतीति सहृदय की प्रतिभा के कारण होती है। इस प्रतिभा को उद्बुद्ध करने वाले प्रवरण ही हैं। अतः प्रवरण जान के बाद ही व्यंग्याय प्रतीति हो सकती है।<sup>१</sup>

आचार्य मम्मट ने भी इस प्रकरण को स्वीकार किया है, परन्तु स्पष्ट शब्दों में इसका उल्लेख न करके उन्होंने केवल इसका संकेत मात्र कर दिया है। अभिधामूला गार्गी व्यञ्जना के प्रसंग में उन्होंने बताया है कि अभिधा का नियोग प्रवरणात् के कारण वाच्याय में हो जाता है। अतः व्यञ्जना की प्रतीति में प्रवरणात् सहृदय हात है और शब्दी व्यञ्जना में भी वे प्रवरण का महत्त्व मानते हैं। इसी का उल्लेख उन्होंने किया भी है<sup>२</sup> और इन्हीं ही अभिधामूला व्यञ्जना के नियामक हेतु कहते हैं।

नियामक हेतु—अनेक अर्थ वाच्य किमी गण का एक निश्चित अर्थ दूसरे शब्दों के संयोग से होता है। जैसे गणपचको हरि। इसमें हरि के हृद, सिंह वर, घोडा आदि अनेक अर्थों में से गण के संयोग से गणरा अर्थ विद्यमान से ही लगाया जाता है।

(२) विप्रयोग—यह संयोग का विनाश है। जैसे अश्लेषता हरि। यही गण के वियोग में भी हरि (विद्यमान) का ही अर्थ मान्य होगा।

(३) साहचर्य—कभी कभी दो वस्तुओं के साथ साथ रहने की पर

१ ध्वनि संप्रदाय और उक्त बाद। भोलाशंकर व्यास पृ० १८६

२ संयोगा विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता।

अथ प्रवरणं त्रिगुणं व्याप्यस्य मन्त्रिणः।

गामय्यधीनिता गण कालाव्यति स्वराय्य।

गणाय्यस्याव्यस्य विनाय स्मृतिहेतवः। काव्यप्रकाश दुमरा

उक्तम्

म्परा से भी किसी शब्द का एक ही अर्थ म नियंत्रण हो जाता है। जस 'राम लक्ष्मणौ' मे राम का अर्थ दाशरथि राम ही है।

(४) विरोध—एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के विरोध को समझ कर प्रकरणादि के द्वारा किसी शब्द का एक निश्चित अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। "रामाजु न गतिस्तयो" में राम के विरोध के कारण अजु न का अर्थ कातवीय से लगाया जायगा और इसी विरोध के कारण राम का अर्थ परशुराम होगा।

(६) अर्थ—जहाँ अनेकायक शब्द को एक अर्थ से नियंत्रित करने वाला दूसरा अर्थ हो तो वहाँ अर्थ ही नियामक हेतु होता है। "स्याणु भव भवच्छिदे" म स्याणु का अर्थ ठूँठ न हाकर गिव से लगाया जायगा, क्योंकि ससार का दुःख मिटाने का ठीक अर्थ गिव से ही लगेगा ठूँठ से नहीं।

प्रकरण—जहाँ प्रकरण या प्रसंग के आधार पर अर्थ का निश्चय होता है। जस 'संघवमानय वा रसोईधर म अर्थ नमक और बाहर जाने को तयार व्यक्ति द्वारा कहे जान पर घोटा' होगा।

(७) लिंग—जब किसी चि ह को द्वाकर अनेकायवाची शब्द का कोई विशेष अर्थ लिया जाता हो तो वहाँ लिंग ही उसका नियामक हेतु होता है। जसे कुपितो मन्त्रवज' मे श्रुद्ध हाना चि ह है। इसमे कामदेव' अर्थ ही होगा समुद्र या औपनि विनाप नहीं।

(८) सामर्थ्य जब एक शब्द के सामर्थ्य के आधार पर एक विशिष्ट अर्थ लिया जाता है तो भी इस नियामक कहते हैं जसे 'मधुना मत्त कोकिल' वाक्य मे मधु (बमत) मे ही कोकिल को मत्त कराने का सामर्थ्य है। मधु के अर्थ अर्थ, पराग, शराव दाह आदि भी होते हैं।

(९) अर्थ शब्द को सप्रियि—जब एक शब्द के सानिध्य पर अर्थ का नियमन होता हो तो भी वह नियामक हेतु हो जाता है। जस 'पुराराति में त्रिपुरा के शत्रु रूप म महादेव का ही अर्थ ग्रहण होगा।

(१०) औचित्य—क आधार पर अर्थ का नियमन होता है। जसे अर्थ भाति' म अर्थ का अर्थ गूय ही होगा, क्योंकि वही दिन मे चमकता है।

(११) देश—क आधार पर भी अर्थ का नियंत्रण होता है "मात्यत्र परमेश्वर" वाक्य का प्रयोग राजधानी में करने का इसका अर्थ राजा से लगाया जायगा। अर्थ स्थानों पर परमेश्वर का अर्थ ईश्वर से होगा।

(१२) वाक्य—के आधार पर वाक्य में प्रयुक्त "चित्रमानुविभाति" में चित्रमानु का अर्थ अग्नि, और अग्नि म प्रयुक्त होने पर गूय होगा।

(१३) व्यक्ति—य लिंग को नियामक हेतु मानते हैं। उसे मित्र भाति म मित्र नपुंस्व लिंग है। अतः इसका अर्थ सुहृद् होगा और “मित्रो भाति” वाक्य में मित्र के पुलिग होने से इसका अर्थ सूय होगा।

(१४) स्वर—द्वारा वाक्य के प्रयोग से अर्थ बदल जाता है। स्वरों का महत्त्व वद में ही अधिक माना गया है और इसका उदाहरण “इ द्रशतु” दिया गया है।

(१५) श्लेषा—ये हस्तादि के शब्दों का अर्थ ग्रहण होना है अर्थात् अभिनय से भी अर्थ एक ही में नियंत्रित हो जाते हैं।

इस प्रकार अनेकार्थक शब्दों को एकार्थ में नियंत्रित करने के उपयुक्त पदार्थ नियामक हेतु कहे गये हैं और इनका बड़ा महत्त्व होता है। इसी प्रकार व्यञ्जनादि बोध के लिए अभिधा नामक शब्द शक्ति का भी अधिक महत्त्व माना गया है।

लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना—पहले बताया जा चुका है कि लक्षक शब्द के आधार पर होने वाले व्यञ्जना का लक्षणामूला कहते हैं। इसमें किसी पद्योपपत्ति का प्रतीति के लिये ही लाक्षणिक पद का प्रयोग किया जाता है। यह दो प्रकार का हो सकता है। कभी तो यह गूढ व्यंग्य और कभी अगूढ व्यंग्य होता है। गूढ व्यंग्य का निम्नलिखित उदाहरण आचार्य मम्मट ने दिया है—

मुख विकसित स्मित बधित वचि म प्रसित  
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्त सस्था मति ।  
उरा मुकिलितस्तन जघनमगबधोदधुर  
वत दु बदनातनी तरुणिमादगमो मोत्ते ॥

इसमें स्मित का विकसित होना, प्रेक्षण में वशीकरण होना विभ्रम का छलकना आदि प्रयोगों में अवयानुपपत्ति है। अतः सहृदय ही इसके वास्तविक अर्थ विकास में समुत्तता वशीकरण में स्वयं सतिद्धता समुच्छलन में प्रचुरता—आदि का बाध करते हैं। यह अर्थ गूढ है और जल्दी में सम्भ्रम नहीं आता है। इसी से इस गूढ व्यंग्य लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना कहते हैं। यहाँ पर अवयानुपपत्ति से प्रयुक्त शब्द अर्थात्तर म लक्षण द्वारा मन्त्रित हो जाते हैं।

अगूढ व्यंग्य—इसमें व्यंग्य का ज्ञान बिना किसी परिषय के ही सहृदयों को हो जाता है अर्थात् इसमें गूढाद्य न होने से अगूढ स्पष्ट होता है। यथा—

“थी परिचयाज्जडा अपि भवत्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।  
उपदिशति कामिनीना यौवनमद एव ललितानि ॥”

इममे प्रयुक्त ‘उपदिशति’ पद यौवनमद के साथ उपदेश काय का बहान करने में असमर्थ होने से अर्थांतर का बोध करता है। इससे ‘आविष्कार’ अथवा ‘प्रकाशन’ रूप अभिप्राय लक्षित हो जाता है।

लक्षणापूर्वा शास्त्री-यञ्जना में भी प्रकरण का महत्व होता है। दिये गये उदाहरण में वक्ता और वाढ्यादि का महत्व अवश्य है। यहाँ पर जो व्यक्ति प्रकरण के जान स युक्त है, वही व्यंग्याय का जान प्राप्त कर सकता है तथा लक्षणापूर्वा में प्रयोजन रूप व्यंग्य, शब्द से ही निकलता है। शब्द का महत्व यहाँ पर भी रहता है और इस शब्द से ही अर्थ का जान होता है।

आर्थी व्यञ्जना—व्यञ्जना युक्त शब्द या अर्थ व्यञ्जक कहा जाता है और इससे व्यक्त होने वाले अर्थ को व्यंग्याय कहते हैं। इस व्यंग्याय का जान कराने की शक्ति शब्द और अर्थ दोनों में रहती है। इसी से शब्द और अर्थ दोनों के ध्वनित्व को स्वीकार किया गया है। हममें जब शब्द के आधार से व्यंग्याय की प्रतीति होती है तो शास्त्री व्यञ्जना और जब अर्थ के आधार पर व्यंग्याय का बोध होता है तो आर्थी व्यञ्जना कहा जाता है। कुछ लोगों ने तो केवल आर्थी व्यञ्जना का ही स्वीकार किया है और शास्त्री व्यञ्जना को नहीं माना है।

ध्वनिकार ने बताया है कि आर्थी व्यञ्जना में भी शब्द का सहकारित्व अवश्य रहता है। मम्मट ४ अनुमार आर्थी व्यञ्जना में व्यंग्याय रूप दूसरे अर्थ की प्रतीति का साधन भा कोई न कोई विशेष शब्द ही होता है। इस प्रकार आर्थी व्यञ्जना में शब्द का सहकारित्व बना रहता है। ध्वनिवादी न भी जो पद्य, पद्यांग आदि का भेदाभेद किया है, इससे भी शब्द की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। आचार्य विश्वनाथ ने भी इस सहकारित्व को स्वीकार किया है।<sup>१</sup>

१ शब्दप्रमाणवद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थांतर यत् । अर्थस्य व्यञ्जकत्वेऽपि शब्दस्य सहकारिता । काव्यप्रकाश ३/२३

२ शब्दबोधो व्यनक्त्यर्थे शास्त्रीऽप्यथा तराथय । एकस्य व्यञ्जकत्वेऽप्यदनस्य सहकारिता । साहित्य दण्ड ३० २

यसोऽर्थांतरयुद्धतया । अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मत् । काव्यप्रकाश २/२०

अत आर्थो-व्यञ्जना म शब्द की व्यवस्था नहीं की जा सकती है। फिर भी शब्द की अनेकानेक अर्थों की प्रकृति अतिव्यक्ति है। विद्वानों के अनुसार 'व्यञ्जना म शब्द और अर्थ में एक एक व्यञ्जना हान पर दूसरा भी सहकारी व्यञ्जना अर्थ होता है। शब्दों म दूसरे अर्थ का आशय लक्ष्य ही शब्द व्युत्पत्ति प्रतीति करता है आर्थों म व्युत्पत्ति प्रतीति कराने वाला व्यञ्जना अर्थ भी किसी शब्द में ही प्रतीति होता है। इस तरह शब्दों द्वाारा म शब्दों ही एक दूसरे के सहायक होते हैं।"

विभाजन के आधार—आर्थो व्यञ्जना म व्युत्पत्ति का बोध कराने में अर्थ ही महत्ता रहती है। अर्थ तीन प्रकार के—वाच्य लक्ष्य और व्युत्पत्ति होते हैं। आचार्य मम्मट ने इन तीनों प्रकार के अर्थों म व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार किया है और कहा है कि प्रायः सार अर्थों म व्यञ्जनात्व पाया जाता है। इन तीनों प्रकार के अर्थों म व्युत्पत्ति की प्रतीति होता है। इस दृष्टि से आर्थो-व्यञ्जना के तीन भेद हो जाते हैं अर्थात् एक अर्थ स व्युत्पत्ति रूप दूसरे अर्थ का ज्ञान होने में उसके तीन भेद किये जा सकते हैं।

- (१) वाच्य स व्युत्पत्ति (वाच्य सम्भवा व्युत्पत्ति)
- (२) लक्ष्य में व्युत्पत्ति (लक्ष्य सम्भवा व्युत्पत्ति)
- (३) एक व्युत्पत्ति से दूसरे व्युत्पत्ति की प्रतीति

(व्युत्पत्ति सम्भवा व्युत्पत्ति)

क्रमशः इन तीनों का वर्णन किया जायगा।

वाच्य-सम्भवा आर्थो व्युत्पत्ति—किसी वाक्य में प्रयुक्त शब्दों से जब साक्षात् संकेतित अर्थ का ज्ञान होता है, तो उसे वाच्य कहते हैं और वही मुख्य अर्थ भी कहा जाता है। इस मुख्य अर्थ से जहाँ अन्य अर्थों की प्रतीति होती हो, वहाँ वाच्य सम्भवा आर्थो व्युत्पत्ति कहा जाता है यथा—

मातृगृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं स्वया ।

तद् भण कि करणामवमेव न चामरे स्थायी ॥

इस उद्धरण से साधारण रूप में सबप्रथम मुख्य अर्थ की प्रतीति होती है। इसे ही वाच्य कहते हैं। इस वाच्य के ज्ञान के साथ वनश्री आदि के प्रकरण से एक दूसरे अर्थ का और ज्ञान हो जाता है। सामान्य अर्थ तो यह है कि

'हे माता, अपने पहले ही कह दिया है कि गृह के उपकरण नहीं हैं। अतः क्या करना चाहिए ? कहो क्योंकि समय तो ऐसा ही न रहेगा।' इस अर्थ ज्ञान के उपरांत दूसरा अर्थ यह प्रतीत होता है कि धोखे वाली वह स्त्री स्वर विहार करना चाहती है। इस व्यंग्य वस्तु की प्रतीति व्यंग्याय रूप में ही हो जाती है, जो वाच्याय की प्रतीति के उपरांत ही होती है। इसी से इसे वाच्य-सम्भवा आर्थो व्यंजना कहते हैं।

लक्ष्य सम्भवा-आर्थो व्यंजना—इसमें सबसे प्रथम प्रयुक्त शब्दों के द्वारा साक्षात् संकेतित अर्थ का ज्ञान होता है परंतु इस अर्थ की समझ ठीक नहीं बटती है और मुख्यार्थ का बाध हा जाता है। अतः इसी वाच्य अर्थ से सम्बंधित लक्ष्यार्थ रूप दूसरे अर्थ की प्रतीति हो जाती है। इस स्थान पर प्रयोजनयुती लक्षणा का भेद माना जाता है और इस प्रयोजन का बोध कराना ही उद्देश्य होता है। प्रयोजन रूप इस लक्ष्यार्थ का ज्ञान प्राप्त की व्यंजना नामक शक्ति से होता है। इस लक्ष्यार्थ के प्रयोजन रूप व्यंग्याय के साथ ही एक अर्थ व्यंग्याय का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार लक्ष्य सम्भवा में तीन अर्थों की प्रतीति होती है। प्रथम क्षण में मुख्यार्थ की प्रतीति, द्वितीय क्षण में मुख्यार्थ बाध होने पर तत्सम्बन्धित लक्ष्यार्थ का ज्ञान और तृतीय क्षण में प्रकरण आदि के द्वारा वक्ता, बोद्धा आदि के ज्ञान के साथ व्यंग्याय की प्रतीति होती है। यथा —

साधयती सखि ! सुभग क्षणे क्षणे द्नासि मत्कृते ।

सद्भाव स्नेह करणीय सदृशक तावद्विरचित स्वया ॥

इस उद्धरण का मुख्यार्थ यह है कि 'हे सखि, तू मे प्रिय की साधना करती हुई मेरे लिये क्षण क्षण में दुःखी होती हो। सद्भाव तथा स्नेह के युक्त तूझे जसा करना चाहिये था, तूने जसा ही आचरण मेरे सग किया है।'।

लक्ष्यार्थ—वाच्याय का ज्ञान हा जाने के उपरांत लक्ष्यार्थ रूप दूसरे अर्थ का ज्ञान हो जाता है कि हे प्रिय सखि ! तूने मेरे प्रिय को अपने पक्ष में साध कर मेरे स्नेह और सद्भाव के उपयुक्त आचरण नहीं किया है और अनुचित व्यवहार किया है।' इस द्वितीय अर्थ का ज्ञान हो जाने के उपरांत प्रयोजन रूप इस व्यंग्याय की प्रतीति होती है कि 'तूने गणुता की हान पर ही है' और इन्हीं एक अपर व्यंग्याय भी व्यवत होता है कि 'तूने तथा-नायक न मित्र मेरे प्रति घोर अवायव्य आचरण को व्यवत किया है, जो किसी भी गणुता में क्षतिय नहा है।

यहाँ पर मुख्याय बाध होना पर विपरीत लक्षणा से लक्ष्याय का ज्ञान हो जाता है और इस लक्ष्याय के बाध 'तुम दानों की सापराधता' रूप व्यंग्याय का ज्ञान होता है अर्थात् शत्रुवातियाय का बाध कराना ही इसका उद्देश्य रहा है। ध्यान देने की यह बात है कि शाब्दी व्यञ्जना में व्यंग्याय की प्रतीति शब्द के कारण ही होती है और लक्ष्य-सम्भवा आर्थी व्यञ्जना में व्यंग्याय की प्रतीति अर्थ के कारण होती है। इसमें व्यंग्याय का ज्ञान लक्ष्याय के ज्ञान के साथ ही होता है। प्रयोजन रूप व्यंग्याय की प्रतीति भी उसी शब्द से होती है, जिससे मुख्याय अथवा लक्ष्याय का ज्ञान होता है। अर्थात् लक्षणा पर आश्रित शाब्दी व्यञ्जना से ही व्यंग्याय की प्रतीति होती है।

व्यंग्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना—इसमें मुख्याय प्रतीति के बाद प्रकरण-आदि के द्वारा व्यंग्याय की प्रतीति होती है। इस व्यंग्याय में पुन एक अर्थ व्यंग्याय की प्रतीति हो जाता है। इस प्रकार एक व्यंग्य से दूसरे व्यंग्य की प्रतीति होने पर इसे व्यंग्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना कहते हैं। यथा —

पदप निरञ्चल निष्पदा विसिनी पत्रे राजते बलाना ।

निमल मरकत भाजन परिस्थिता शलमुक्तिरिव ॥

इस उद्धरण में अंतिम व्यंग्याय का ज्ञान चतुर्थ श्लोक में होता है। इसका मुख्याय यह है कि देखो कमल पत्र पर निरञ्चल और निष्पदा बलाना स्वच्छ मरकत मणि के पास में रखी हुई गल मुक्ति के समान शोभित हो रही है।

इस मुख्याय से व्यंग्याय की यह प्रतीति होती है कि बगुला पूर्णरूप से निभर और आश्वस्त है। इस व्यंग्याय से दूसरे व्यंग्याय की यह प्रतीति होती है कि निजन्तता के कारण से ही ये बगुले आश्वस्त हैं। अन यह मकत स्थान है। अथवा तुम झूठ बालत हो यहाँ नहीं आये थे अथवा यह बगुला इतना आश्वस्त न रहता। इसमें निभरता का ज्ञान निष्पदा से होता है, इससे निजन्तता की प्रतीति और संकेत स्थल का ज्ञान होता है। पुन प्रकरण से नायक द्वारा यहाँ न आने पर भी उससे बहाना बताने का ज्ञान हो जाता है।

अर्थ व्यञ्जकता के साधन—पहले यह बताया जा चुका है कि व्यंग्याय बोध के लिये प्रकरण-आदि की बहुत अधिक महत्ता रहती है। इस प्रकरण ज्ञान की ही अर्थ व्यञ्जकता का साधन मान सकते हैं। आचार्य मम्मट ने कहा है कि

वत्ता, बोद्धा, वाकु, वाक्य, वाच्य, अय सन्निधि प्रस्ताव, देश, काल और आदि (चेष्टा) के वशिष्ट्य से प्रतिभाशाली व्यक्तियों को व्यंग्याय की प्रतीति कराने वाला शब्द का व्यापार व्यञ्जना-यापार कहा जाता है।<sup>१</sup> यहाँ पर आदि शब्द से चेष्टा का ग्रहण किया गया है और प्रतिभा का अर्थ पूव जन्म का सस्कार विशेष है, जिनके कारण वाक्य की रचना एक अनुशीलन होता है। सहृदय का अर्थ वा-यानुशीलन से स्वच्छ मन मन वाले व्यक्ति से है।<sup>२</sup> ऐसे ही सहृदयों को वक्तृदि के वशिष्ट्य से व्यंग्याय का बोध हो जाता है।

१ वक्तृबोधव्य—यहाँ वत्ता के स्वभाव से उसके कथन का मेल न बढने के कारण व्यंग्याय का ग्रहण करते हुए एक दूसरे अर्थ को प्राप्त कर लेते हैं। और इस प्रकार कथन की सगति बढ जाती है। यथा—

अति पृथुल जलकुम्भ गृहीत्वा समागता स्मि सखि त्वरितम् ।  
श्रवस्वेदसलिलनि श्वासनि सहाविधाम्यामि क्षणम् ॥

यहाँ कहने वाली स्त्री के चरित्र का ज्ञान होने पर ही पात होता है कि वह स्त्री उपपत्ति के पास रमण करने गई थी।

२ बोधव्य वशिष्ट्य—जहाँ बोधव्य (जिससे कहा जा रहा है) के स्वभाव के अनुकूल व्यंग्याय की प्रतीति सहृदय कर लेता है, वहाँ बोधव्य (जिससे कोई कथन किया गया है) वशिष्ट्य ही व्यंग्याय प्रतीति का कारण होता है। यथा—

ओनिद्र्य द्रीवत्य चित्तालसत्वं सनि श्वासितम् ।  
मम मन्त्रभागिन्या वृते त्वामपि अट्टह परिभवति ।

इसमें नायिका के विरुद्ध आचरण करने वाली सखी ही बोधव्य है। उसके स्वभाव के कुलटा पन से ही यह दोषता व्यञ्जित हो जाती है।

३ वाकु वशिष्ट्य—जहाँ पर वक्त्र की ध्वनि से व्यंग्याय की प्रतीति हो जाती हो वहाँ वाकु-वशिष्ट्य मानते हैं। यथा—

- १ वक्तृबोधव्य वाकूना वाक्य वाच्यस्य सन्निधे ।  
प्रस्ताव दशकालादव शिष्ट्यात् प्रतिभाञ्जुपाम् ॥  
योऽयस्याग्यथ धीर्हेतु-यापारो व्यक्तिरवत्ता ॥ वाच्य प्रकाश
- २ यथा वाव्यानुशीलनवगाद् विगपीभूत मनामुकुरे  
ते सहृदया मवाभाजा ।



तथाभूत दृष्टया नपसदति पाञ्चालतनयां  
 वने ध्याय साधगुचिरमुपित बलालपर ।  
 विराटस्यावासे स्थितमनुचिदारम्भनिभूत,  
 गुरु सेद गिन्नमपि भजति नाद्यापि कुरुपु ॥

यहाँ पर न के प्रयाग म बाबु है और वाक्य म किय गय प्रश्न का ज्ञान इससे हो जाता है । इससे प्रश्न रूप वाक्याय से यह अय बाधित होता है कि "युधिष्ठिर को मरे प्रति श्रोध करा। अनुचित है और कौरवा क प्रति श्रोध करना ही उचित है । अत उनका यह आचरण विपरीत है ।"

४ वाक्य वशिष्टय—प्रयुक्त वाक्य की विशिष्टता से जब व्यंग्याय की प्रतीति हो जाती है । यथा —

तदा मम गण्डस्थलनिमग्नौ दृष्टि नानपीरयत्र ।  
 इदानी सवाह तौ च कपोलौ न सा दृष्टि ॥

इसमे ' मेरे कपोलों पर प्रतिबिम्बित सखी के विम्ब पर तुम्हारी दृष्टि लगी हुई थी, उसके चल जान पर तुम्हारा दृष्टि और ही हा गइ । अत इससे नायक का कामुकत्व व्यक्त हा जाता है ।

५ वाक्य वशिष्टय—वही पर मुख्याय की विशिष्टता से हा जब वाघ होता है ।

उद्देश्य सरसकदलीश्रणि साभतिशायी  
 कुजोत्कर्षा कुरितरमणी विभ्रमा नमदाया ।  
 कि चतस्मिन् सुरतमुहदस्तवि ते वाति वाना  
 येपामग्र सरति, कलिता पाण्डवोपो मनोभू ॥

यहा नमदा क आरपक सीर को देखकर विनासिनिया म विनाम न कृ रित हो जाता है । सुरत श्रोडा का सहायक वायु प्रवाहित होता रहता है । और इनके आगे क्रुद्ध कामदेव चल रहा है । इस वाक्य द्वारा नायक की कैलि सम्बन्धिनी अभिलाषा व्यक्त हो जाती है । इसमे स्थान का भी वशिष्टय है ।

६ अय सन्निधि वशिष्टय—जब अय व्यक्ति के पास म रहने से व्यंग्याय की प्रतीति सहृदय की हो जाय । यथा —

नुत्पयनाद्रमना इमश्रूमा गृहमरे राकल ।

क्षणमाय यदि सपाया भवति न वा भवति विधाम ॥

यहाँ सखी से कथित इस वाक्य का उद्देश्य पास जाते हुए उपनायक को सुनाकर यह बताना है कि संध्याकाल में ही मुझे कभी कभी समय मिलता है । अतः यही संकत काल है ।

७ प्रस्ताव वशिष्टय—वक्ता के प्रस्ताव से भी व्यंग्याथ की प्रतीति होती है —

‘श्रूयते समागमिष्यन्ति तव प्रियाद्य प्रहरमात्रेण ।

एवमेव किमिति तिष्ठसि तत्सखि । सञ्जय करणीयम् ।’

यहाँ वक्ता के वचन से ही प्रकट होता है कि यह अभिसरण करने का उचित समय नहीं है, क्योंकि तुम्हारे पति प्रहर मात्र में आने वाले हैं ।

८ देश वशिष्टय—जब देश या स्थान विग्रहसे व्यंग्याथ की प्रतीति हो जाय —

अपत्र रूप कुसुमावचाप कुहूध्व मन्नास्मि करोमि सख्य ।

नाह हि दूर भ्रमितु समर्था प्रसीदताय रचितोज्ज्वल्य ।

यहाँ ‘इस स्थान’ विशेष से ध्वनित होता है कि उपनायक का तुम यहीं भेज दो ।

९ काल वशिष्टय—काल के ज्ञान से भी व्यंग्याथ का ज्ञान हो जाता है ।

गुरु जन पर वश प्रिय । कि भणामि तव म दमगिनी अहम् ।

अथ प्रवास व्रजसि व्रज स्वयमेव थोष्यसि करणीयम् ।

‘यहाँ यह व्यंग्याथ है कि यदि आज मधुमास में तुम विदेश जावागे तो मेरी मृत्यु अब य होगी और तुम्हारी क्या गति होगी, मैं नहीं जानती ।’

१० चेष्टा—द्वारा भी व्यंग्याथ की प्रतीति हो जाती है । यथा —

द्वारो पा तनिरत्तरे मयि तथा सौ त्य सारथिया

प्रोल्लास्योरुयुग परस्पर समासक्त समासादितम् ॥

अनीत पुरत गिरो गुकमघ क्षित्तोत्तले लाचन,

वाचस्तत्र निवारित प्रसरण सगचिते दोलते ॥

‘मेरे उस सुन्दरी के द्वार से निकलने पर उमन अपनी जाघो को फला कर एक दूसरे से मिला लिया, गिर ब वस्त्र को खींच लिया चंचल नत्र स्थिर कर लिय, बोलना बन्द कर दिया और हाथों का एक दूसरे से समेट लिया ।’

इस उदाहरण में शारीरिक चेष्टाओं जाघो वा सिकोडना घू घट का खीचना आदि से व्यग्राय की प्रतीति हो जाती है कि 'नीरव साध्यवेला में घाति पूवक आजाना ।' इन चेष्टाओं को दसकर ही इसके गूढ अर्थ रूप व्यग्राय का पान हो जाता है ।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि ऊपर कहे गये दश प्रकार भेदों से आर्षी-व्यञ्जना का ज्ञान हो जाता है और इस ज्ञान में वकता बोद्धादि तथा प्रकरण आदि का बहुत अधिक महत्व होता है । इन दश तत्वों में से किसी एक ज्ञान से भी व्यग्राय की प्रतीति हो जाती है । कभी कभी कई एक तत्व मिल कर भी व्यञ्जक बन जाते हैं । इन सभी तत्वों में निहित व्यग्राय की अव-स्थिति सहृदयों को होती रहती है ।

---

## व्यजना की स्थापना

आनन्दवदन १ ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ध्वनि की स्थापना करने के हेतु ध्वनि विरोधी तीन पदा की कल्पना की है। आरम्भ में उन्होंने 'काव्यास्यात्मा ध्वनि' ऐसा मान लिया है। इस विचार का समयन पूर्व विद्वानों ने भी किया है, फिर भी प्रारम्भिकों के आधार पर ध्वनि के अस्तित्व को १ मानने वालों के तीन वर्गों की कल्पना की गई है।

(१) अभाववादी मत—इनके मत से ध्वनि है ही नहीं। इस विचार उद्बोधक भामह, भट्टोद्भट्ट आदि हैं। यह एक विषय मूलक पक्ष है। इससे इसे ध्वनि की दृष्टि से निवृत्त पक्ष का माना गया है।

(२) भाक्तवादी पक्ष—यह सदह मूलक हान से मध्यम पक्ष का माना गया है।

(३) अलक्षणीयतावादी पक्ष— इस पक्ष के लोग ध्वनि के अस्तित्व का स्वीकार करते हैं परन्तु इसका लक्षण कर सकना संभव नहीं मानते हैं। इस दृष्टि से यह एक अज्ञानमूलक पक्ष है और उपयुक्त दो विचारों की अपेक्षा कम दूषित है, क्योंकि इसमें ध्वनि का स्पष्ट रूप से निषेध नहीं किया गया है।

ध्वनिकार का दो म तन्व स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है। प्रथम—ध्वनि सिद्धान्त का निर्धारित शब्दों में स्थापना करने हेतु सभी ध्वनि विरोधी विचारकों का समुचित उत्तर देना और उनके मत का निराकरण करना। द्वितीय—रस, अलङ्कार रीति, गुण दोष विषयक सिद्धांतों का सम्यक् परोक्षण करते हुए ध्वनि के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना तथा ध्वनि के रूप में एक सर्वाङ्ग पूर्ण सिद्धान्त की स्थापना करके अथवा सभी विचारों को उसका अंग रूप में स्वीकार करना। इन दोनों में प्रथम अर्थात् ध्वनि की स्थापना करने हेतु उपयुक्त जिन तीन विरोधी पक्षों की सम्भावना की गई, उनमें प्रथम अभाववादी पक्ष है।

अभाववादी ध्वनि का अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करते। इनके विचार से अथ चास्त्र हेतुओं में ही ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसे विचारकों के सोच पर्वों का बहना माना पद्य न लेना है —

(क) अभाववादीयों का प्रथम दण्ड ने ध्वनि और अथ को ही वाक्य शरीर माना है। ऐसे ध्वनि और अथ का चास्त्र हेतु दो प्रकार का माना जा सकता है —

(१) स्वयंगत चास्त्र के अतगत ध्वनिकार का गणना होती है। इनमें स्वयंगत चास्त्र हेतु अनुनासिक ध्वनिकार और अतगत चास्त्र हेतु उपमासिक ध्वनिकार मान गये हैं।

(२) स्वयंगत चास्त्र—ध्वनि और अथ के स्वयंगत चास्त्र हेतु ध्वनि सपटना धम और माधुर्यादि गुण हैं। अलंकार और गुणों से अभिन्न उपना गारिकासि यत्तियाँ और गुणों से अभिन्न वर्णों प्रकृति रीतियाँ भी हैं। उद्गम ने यत्तियों का अन्तर्भाव अलंकार में माना है। उद्गम ने अनुनासिक की पाँच प्रकृति रीतियाँ मानी हैं। इसी प्रकार वामन द्वारा प्रस्तावित वर्णों प्रकृति रीतियाँ माधुर्यासि गुणों से अभ्यतिरिक्त हैं। अतः अभाववादीयों के प्रथम दण्ड का यह मत है कि अतगत और गुणों से व्यतिरिक्त अथ कोई चास्त्र का हेतु सम्भव नहीं है।

(ख) अभाववादीयों का द्वितीय विकल्प—इस मत में ध्वनि का अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है, क्योंकि परम्परा से वाक्य का जो स्वरूप निर्धारित किया गया है ध्वनि का मान लन से उस प्रतिष्ठित भाग का अति श्रमण हानि के कारण अथ वाक्य प्रकार में वाक्यत्व की हानि होगी तथा का य का लक्षण नहीं बनेगा। इसका कारण यह है कि 'सहृद्यहृद्यथाहाक' गन्ध मुक्तत्व हा काव्य का लक्षण है और शब्दाद्य शरीर वाक्य वाले भाग में वह वाक्य लक्षण सम्भव नहीं है और न ध्वनि सम्प्रदाय के अतगत कि ही स्वेच्छा कल्पित व्यतिरिक्त को सहृद्य मानकर उनके कथनानुसार किस्से कल्पित नवीन ध्वनि में वाक्य नाम का व्यवहार प्रचलित करने पर विद्वाना में माय ही होगा। इस विकल्प में तत्र का कोई ठोस आधार प्रदान न करके बवल परम्परा की दुर्गई दी गई है।

(ग) अभाववादीयों का तीसरा विकल्प—इस मत का अनुसार ध्वनि नाम का कोई नया पदार्थ सम्भव ही नहीं है। यदि यह ध्वनि चास्त्र का अतिश्रमण नहीं करता, तो प्रथम विकल्प में गये गुणालंकारादि में ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है। इस गुणालंकार रूप चास्त्र हेतुओं में से ही यत्तियों का नाम ध्वनि रख लिया जाय ता यह बहुत ही तुच्छ बात होगी। ध्वनिकार ने भी इस

विचार का समयन करते हुए कहा है कि 'कथन शलिया व अनन्त प्रवार होने के कारण तथा काव्य लक्षणकारो द्वारा अप्रदर्शित यदि कोई भेद हो भी तो ध्वनि ध्वनि कह कर मिथ्या सहृदयत्व की भावना से आँखें बन्द करके जो यह अवाण्ड ताण्डव किया जाता है, उसका कोई उचित कारण नहीं। जय विद्वानों की तो यह मिथ्या सहृदयत्व की भावना नहीं दिखाइ पडती। अतः ध्वनि केवल प्रवाद मात्र है और उसका विचार याग्य तत्त्व कुट्ट नो नहीं बताया जा सकता है।'<sup>१</sup>

मनोरथ कवि ने भी इसी प्रवाद मात्रत्व की ओर मकेत करत हुए कहा है कि जिसमें अलंकार युक्त मन का प्रमत्त बन वाला कोई वणनीय अथ तत्त्व नहीं है, जो चातुष युक्त सुन्दर गणों में विचारित नहीं है जो सुन्दर युक्तियों से शून्य है, उसका यह ध्वनि युक्त काव्य है ऐसा कह कर प्रीतिपूर्वक प्रशंसा करने वाला मूख, किमी बुद्धिमास के पूछने पर मासूम नहीं ध्वनि का क्या स्वरूप बतायेगा ?<sup>२</sup>

अभाववादी के प्रथम विकल्प का खण्डन—(१) इस मत में 'शब्दाध शरीर काव्यम्' कहा गया है। गद्याय में शब्द शरीर क स्थूलस्वास्ति के समान स्थूल है। अतः सवजन सवेद्य है पर तु का याथ तो सहृदय सवद्य होता है। उससे भिन्न अथ भी व्युत्पन्न पुरुषों को ही प्रतीत होता है। यदि शब्द शरीर स्थानीय है, तो अथ को आत्मा स्थानीय ही मानना पडेगा और सहृदय श्लाघ्य अथ ही कायात्मा है सभी अथ नहा। अतः जो अथ प्रतीयमान है, उसे ही काव्यात्मा कहेंगे।

(२) वाच्य अथ काव्य की आत्मा नहीं है और यही वाच्य उपमादि से व्यक्त किया गया है। अभाववादी इही उपमादि में ध्वनि का अतर्भाव मानते हैं परन्तु अलंकारादि वाच्याय है और ध्वनि प्रतीयमान अथ है। अतः ध्वनि का अतर्भाव अलंकार, गुण, वृत्ति में किया जा सकता है।

(३) 'ध्वन्यालोक' की कारिका दो में वाच्य प्रतीयमानाख्यो म द्वन्द्व समास का प्रयोग है। "उभय पदाय प्रथानो द्वन्द्व" अर्थात् द्वन्द्व समास में

१ ध्वन्यालोक १ ला उद्योत पृ० १०

२ यस्मिन्नास्ति न वस्तुविचन मन प्रह्लास्ति सालकृति।

व्युत्पन्न रचित न च यचन वक्रोक्ति शून्य च यत।

काव्य तद् ध्वनिना समचितमिति प्रीत्या प्रशसन जडो।

नो विदमोऽभिदधाति किं सुमतिना पुष्ट स्वरूप ध्वने ॥ मनोरथ

उभय पदार्थ की प्रधानता रहती है। दोनों की प्रधानता होने के कारण वाच्य या प्रतीयमान किसी पदार्थ का अर्थ ही नहीं किया जा सकता है फिर भी दोनों के अर्थों में स्पष्ट भेद है। यह प्रतीयमान अर्थ वाच्य सामर्थ्य से आश्रित वस्तु मात्र अलंकार और रसादि भेद से अलग प्रकार का होता है, परन्तु इस प्रतीयमान अर्थ की सत्ता ही अलग होती है जो वाच्य से भिन्न है। इसके अतिरिक्त भी निम्नलिखित उचितियों से दोनों की भिन्न सत्ता का पान होता है—

(१) उस प्रतीयमान अर्थ को प्रभावित करने वाली महाकवियों की भाषा उनके अलौकिक प्रतिभासमान प्रतिभा विषय को व्यक्त करती है। इसी से कालीदाम जैसे दो चार कवि ही हैं।

(२) वह अर्थ तब प्राप्त और अर्थशास्त्र (बोस) के ज्ञान से ही प्रतीत नहीं होता यह तो केवल वाच्य की ही प्रतीति होता है। यदि वह केवल वाच्य अर्थ होता तो शब्द और अर्थ के ज्ञान से उसकी भी प्रतीति हो जाती।

(३) वाच्यार्थ का ग्रहण प्रतीयमान अर्थ की अनुभूति में उसी प्रकार साधन मात्र है जिस आनोनाशियों के लिये दीपक का ग्रहण। वाच्यार्थ केवल उपायभूत है प्रधानता तो व्यंग्य अर्थ की ही है।

(४) जैसे पदार्थों का दृश्यात्मक अर्थ ही प्रतीति होती है, उसी प्रकार उसी व्यंग्य अर्थ की प्रतीति वाच्य अर्थ के ज्ञानपूर्वक होती है। अतः वाच्य अर्थ साधन मात्र होने से अप्रधान है।

(५) अलंकार का भेद ऐसा है जो कभी अन्य किसी अलंकार रसादि का शोभादायक होने से उपमादि अलंकार के रूप में भी व्यवहृत होता है। ऐसे ही रूप में यह प्रतीयमान अर्थ उससे भिन्न होगा, परन्तु जहाँ वह वाच्य नहीं है अर्थात् वाच्यसामर्थ्याश्रित व्यंग्य है वहाँ यह किसी दूसरे का अलंकार नहीं, अपि तु स्वयं प्रधानभूत अलंकार है। इसी से उस पूर्वावस्था के कारण अलंकार ध्वनि कहते हैं। यह अलंकार ध्वनि प्रतीयमान का एक लौकिक भेद है और जो अलंकार वस्तुमात्र है तथा प्रतीयमान है उसे वस्तु ध्वनि कहते हैं। इस वस्तु ध्वनि में भी वाच्य और प्रतीयमान अर्थ का स्पष्ट अंतर दीख पड़ता है। यह अंतर निम्नलिखित रूप में दीख पड़ता है—

(१) कहीं पर वाच्य अर्थ विधि रूप और प्रतीयमान अर्थ निवेद्य रूप होता है। इसका उदाहरण भ्रम धार्मिक विश्रब्ध ' है।

(२) वाच्यार्थ प्रतिषेध रूप और प्रतीयमान अर्थ विधि रूप होता है। जैसे स्वधूरन निमज्जति ' ।

(३) वाच्याय त्रिविध रूप और प्रतीयमान अनुभयात्मक होता है।

‘व्रजमभैवैकस्या भव तु ।

(४) वाच्याय प्रतिषेध रूप और प्रतीयमान अनुभय रूप होता है।

“प्राथये तावत ।”

( ) वाच्य और व्यग्य अर्थ का विषय भेद भी होता है अर्थात् वाच्य का विषय अन्य और प्रतीयमान का विषय दूसरा होता है “वस्य वा न भवति रोप ” वाला श्लोक इसका उदाहरण है।

उपयुक्त सभी उद्धरणों से स्पष्ट है कि वाच्याय, जो उपमादि अलकारों के रूप में प्रसिद्ध है, तथा प्रतीयमानाथ ध्वनि के भेद वस्तु ध्वनि से भिन्न होते हैं। इससे दोनों का ही अस्तित्व अलग अलग है। अतः स्वतंत्र अस्तित्व के कारण अलकारों में ध्वनि का अंतर्भाव सम्भव नहीं है। इस प्रकार अभाव वादियों के प्रथम विकल्प का खण्डन हो जाता है।

ध्वनि का दूसरा भेद अलकार ध्वनि भी वाच्याय से भिन्न ही है। अतः वाच्याय और व्यग्याय दोनों एक नहीं हो सकते हैं।

रसध्वनि भी वाच्याय से भिन्न है यद्यपि यह वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर प्रकाशित होता है। इसी से यह अलौकिक भेद है। रसध्वनि शब्द के साक्षात् व्यापार (अभिधा, लक्षणा तात्पर्या) का विषय नहीं है। यदि इन व्यापारों द्वारा इसे वाच्य माने, तो यह वाच्यता दो प्रकार से सम्भव हो सकती है—

(१) स्वशब्द द्वारा (२) विभावादि के प्रतिपादन द्वारा।

इन दोनों में स्वशब्द द्वारा रसध्वनि के निवेदित न होने पर नहीं होना चाहिए। व्यवहार में देखा जाता है कि रसादि का प्रतिपादन स्वशब्द द्वारा नहीं होता है जहाँ स्वशब्द द्वारा प्रतिपादन होता भी है वहाँ विभावादि के माध्यम द्वारा ही यह सम्भव होता है। सना गणक प्रयोग से रस जन्य नहीं होता, केवल अनुन्तित होता है। जहाँ विभावादि नहीं हैं वहाँ स्वशब्द वाच्य रस में रसवत्ता नहीं रहती। अतः अवयव-व्यतिरेक के द्वारा भी स्पष्ट है कि रसादि कभी भी वाच्य नहीं होते, अपितु वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त होते हैं। अतः ध्वनि का यह तीसरा भेद (रसादि ध्वनि) वाच्य से भिन्न ही है।

इस प्रतीयमान अर्थ को गुणों अलकारों और वृत्तियों आदि में अतनूत नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे वाच्य अर्थ हैं। इस प्रकार ध्वनि अगी और अलकारादि अग हो जाते हैं। उपमादि जहाँ प्रतीयमान अर्थ या व्यग्य होते हैं,



वहीं वे अलंकार न रहकर अलंकार ही जाते हैं। गुणों और वस्तुओं का अन्तर्भाव रसो मे ही किया जाता है। इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि ध्वनि स्वरूपगत (शब्द एव अथगत), तथा सपटनागत चारुत्व (माधुर्यादि) की सीमा में नहीं आ सकता है, अपि तु उससे अधिन वित्तत होने से इसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। ध्वनि की सत्ता न माने वाला अभाववादियों ने जो विरोध उपस्थित किया है उसका निराकरण प्रतीयमान रूप अथ की सिद्धि से ही जाता है। अतः ध्वनि का अस्तित्व है और उसका अन्तर्भाव वाच्याय मे नहीं होता। उदाहरणाय जसे पत्थ अपनी सामर्थ्य से वावयाय को प्रकाशित करते हुए वावयाय वाय व्यापार क पूण हो जाने पर अलग प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार वाच्याय से विमुक्त सहस्य की तत्र दशन समय बुद्धि मे यह अथ गुरुन्त ही प्रतीत हो जाता है। इस प्रकार वाच्याय से अतिरिक्त व्यग्यार्थ की सत्ता तथा प्राधाय का प्रतिपादन किया गया। ध्वनि का स्वरूप निर्धारित करते हुए भी बताया गया है कि जहाँ अथ वाच्य विशय अथवा वाचक विशेष शब्द उस प्रतीयमान अथ को अभि यत् करते हैं, उस वाच्य विशय को ध्वनि कहा जाता जाता है। इस प्रकार वाच्य वाचक क चारुत्व हेतु उपमादि स अलग ध्वनि का विषय दिखाया गया और अभाववादियों के प्रथम विकल्प का निराकरण किया गया।

अभाववादियों के दूसरे विकल्प का निराकरण — इस विकल्प मे विरोधियों ने परम्परा की दुहाई दी है कि प्रसिद्ध प्रस्थानातिरेकिणो मागस्य काव्यत्व हानेध्वनिर्नास्ति।' अर्थात् प्रसिद्ध माग का अतिश्रमण करने वाल माग मे कवित्व की हानि होगी इससे ध्वनि नहीं है।' परन्तु यह विचार ठीक नहीं है क्योंकि यह तो केवल लक्षणकारों मे ही प्रसिद्ध नहीं, परन्तु लक्ष्य ग्रन्थों के अध्ययन से विदित है कि सहस्रियों के हृदयों को भी आल्हादित करने वाल वाच्यो का सारभूत वही ध्वनि है इससे भिन्न वाच्य, चित्र-वाच्य कहा जाएगा।

अभाववादियों का तीसरा विकल्प — इसमें कहा गया है कि वह ध्वनि रमणीयता का अतिश्रमण नहीं करती तो उक्त गुणालंकारादि चारुत्व हेतुओं मे ही उसका अन्तर्भाव हो जायगा। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि वाच्य-वाचक भाव पर आश्रित माग के अन्तर व्यंग्य व्यञ्जक भाव पर आश्रित ध्वनि का अन्तर्भाव कस हो सकता है? वाच्य वाचक (शब्द और अथ) के चारुत्व हेतु उपमादि तथा अनुप्रासादि अलंकार तो उस ध्वनि के अंग रूप हैं

और ध्वनि अंगी है। अतः ध्वनि के व्यंग्य व्यञ्जक भाव मूलक होने से वाच्य वाचक चारुत्व हेतुओं में अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। वहाँ भी है कि —  
व्यंग्य व्यञ्जकसम्बन्ध घनिव घनतया ध्वने ।

वाच्य वाचक चारुत्व हेतुवत् पतितता कुत ॥

अभाववादियों का दूसरा तर्क — पूर्व पक्षिया का एक दूसरा तर्क यह है कि यदि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति स्पष्ट रूप से नहीं होती तो वहाँ ध्वनि के न मानने से कोई हानि नहीं है, परन्तु जहाँ उसकी प्रतीति होती है, जैसे समासाक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपहृति, दीपक, शंकर आदि में, वहाँ ध्वनि का अन्तर्भाव इन चारुत्व हेतु अलंकारों में तो अवश्य ही जाएगा।

समाधान — ध्वनि का स्वरूप निर्धारित करते हुए ध्वनिकार ने कहा है कि जहाँ शब्द अपने अर्थ का या अर्थ अपने अर्थ को गौण करके काव्य विशेष को व्यञ्जित करता है, वही ध्वनि होती है। इससे इन अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे होगा? दूसरा समाधान यह है कि ध्वनि वही होती है, जहाँ व्यंग्याय की प्रधानता हो और समासोक्ति आदि अलंकारों में व्यंग्याय की प्रधानता नहीं होती। इन स्थानों पर व्यंग्य की प्रतीति होने पर भी काव्य का ही चारुत्व अधिक होने से वाच्य की प्रधानता विवक्षित होती है। पर्यायोक्त अलंकार में यदि व्यंग्य की प्रधानता हो तो ध्वनि के महाविषय होने से उसमें रस अलङ्कार आदि का अन्तर्भाव हो जायगा, परन्तु आचार्य भामह ने 'ग्रहेत्स्वप्सु' "आदि पर्यायोक्त का उदाहरण अपने ग्रंथ में दिया है उसमें तो व्यंग्य का प्राधान्य है ही नहीं। अपहृति और दीपक में वाच्य का प्राच्य और व्यंग्य का वाच्यानुगाभित्व प्रसिद्ध ही है। दीपक में उपमा की प्रतीति होने पर भी अप्रधान होने के कारण वहाँ उपमा का व्यवहार नहीं होता। शंकरालंकार में अङ्गाङ्ग भाव और सदेह शंकर में व्यंग्य की सम्भावना का निराकरण कर देता है। यह शब्द उसकी सजीवता का बोधक है। अप्रस्तुत प्रशंसा के सादृश्यमूलक भेद में यदि अभिधीयमान अप्रस्तुत का अप्राधान्य और प्रतीयमान प्रस्तुत का प्राधान्य विवक्षित हो तो अलंकार का ध्वनि में अन्तर्भाव हो जायगा। अप्रस्तुत अभिधीयमान का प्राधान्य विवक्षित होने पर अप्रस्तुत प्रशंशालंकार होगा।

उपयुक्त विचार से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ वाच्य का अनुगमन करने वाले व्यंग्य का अप्राधान्य है, वहाँ समासाक्ति आदि अलंकार स्पष्ट रूप से वाच्य हैं, परन्तु जहाँ व्यंग्य की प्रतीति मात्र होती है, या वह वाच्यानुगाभी पुच्छभूत होता है अथवा जहाँ उसका स्पष्ट प्राधान्य नहीं है, वहाँ

ध्वनि नहीं होती। इसके विपरीत जहाँ शब्द और अर्थ व्यंग्य बोधन के लिए ही तत्पर है वहाँ ही सत्कर रहित ध्वनि का विषय समझना चाहिए। अतः ध्वनि का अर्थ (अलंकारादि) में अतर्भाव नहीं हो सकता है। अलंकार गुण, वस्तुयाँ आदि ध्वनि के अर्थ हैं। इसलिए भी अगीभूत व्यंग्यप्रधान काव्य विशेष का उसमें अतर्भाव नहीं हो सकता है। ध्वनिकार न प्रथम कारिका में 'सूरिभिः कथित' का प्रयोग द्वारा भी यह सिद्ध करना चाहिए कि यह मत विद्वन्मतमलक है। यो ही अप्रमाणिक रूप से प्रचलित नहीं कर दिया है, इसका प्रयोग ब्याकरणो न किया है और याकरण सभी विद्याओं का मूल है। इनके अनुसार सुनाई पड़ने वाले वर्णों को ध्वनि कहा गया है। अतः सिद्ध है कि ध्वनि का अस्तित्व है और ध्वनि विरोधी अभाव वादियों के तीनों ही मतों (१- 'तदलंकारादि व्यतिरिक्त कोऽप्यध्वनिर्नाम। २-तत्समया त पातिन सहृदयन् काचित्परिवर्तपतत्प्रसिद्ध या ध्वनो काव्य व्यपदेश परिवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मना प्राहितामवलम्बते। ३-तेषाम यत् मस्यैव वा पूव समाख्या मात्र करणे यत्किंचन कथन स्यात्।') का निराकरण हो जाता है।

ध्वनि विरोधी भावतवादी दूसरा ब्य—पूवपक्षियों का यह दूसरा ब्य है। इस मत के निराकरण के पूव भात शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाना चाहिए। आन दबदब न ने 'उपचारमात्र तु भक्ति' कहा है। इसका अर्थ गीण प्रयोग है अर्थात् जो शब्द जिस अर्थ में सवेतित है उस अर्थ को छोड़कर उसके सम्बद्ध अर्थ अर्थ को बोध कराना उपचार कहा जाता है। ध्वनि का स्वरूप निर्धारण प्रसंग पर भी कहा गया है कि वाच्याय से भिन्न अर्थ को वाच्य वाचक द्वारा तात्पर्य रूप से व्यंग्य का प्राणाय होते हुए जहाँ प्रकाशित किया जाता है उस ध्वनि कहते हैं 'वाच्य यतिरिक्तस्याथय वाच्यवाचकाभ्या तात्पर्येण प्रकाशय व्यंग्य प्राणायै स ध्वनि।' इन दोनों 'म' के स्पष्टीकरण के उपरांत ध्वनि को लक्षणगम्य या भावत मानने के सम्बन्ध में इस मत के निराकरण हेतु भावतवादी का निम्नलिखित तीन विवर्ण हो सकते हैं—

- (१) भक्ति ही ध्वनि है।
- (२) भक्ति ही ध्वनि का लक्षण है।
- (३) भक्ति ध्वनि का उपनमण है।

प्रथम विवर्ण और उसका निराकरण—ध्वनि को भक्ति मानने वाले मामह, उद्मटादि हैं। मामह ने काव्यालंकार में ध्वनि का अर्थिषा पत्र स उद्मट ने विवरण में गुणवृत्ति शब्द स तथा वामन न साहस्यात् लगणात् वचानित मे

लक्ष । शब्द ध्वनि माग का स्पष्ट किया है, फिर भी स्पष्ट लक्षण नहीं बन सका है । इस बग वाले इन्हीं माग का अवलम्ब लेकर 'भक्ति' को ही ध्वनि मानते हैं ।

खण्डन—यहाँ पूव पक्षी के इस मत के स्पष्टीकरण के लिये यह प्रश्न उठता है कि पूवपक्षी ध्वनि और भक्ति को पर्याय के रूप में ग्रहण करता है अथवा किसी अथ रूप में । यदि पर्याय के रूप में मानता है तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि इन दोनों के स्वरूप में स्पष्ट अंतर ऊपर बताया जा चुका है । सकेतित अथ को छोड़कर तत्सम्बद्ध अथ अथ का बोध उपचार (भक्ति) है और व्यंग्याथ की प्रघाता में ध्वनि का अस्तित्व होता है । व्यंग्य अथ में प्रतीयमान अथ सकेतित अथ के साथ उपचार की भाँति उससे सम्बद्ध ही हो ऐसा आवश्यक नहीं है । इससे 'भक्ति' और ध्वनि एक नहीं हो सकते । ध्वन्यालोक में भी इसका समर्थन किया गया है कि 'रूप भेद के कारण यह ध्वनि भक्ति से एतत्त्व को धारण नहीं कर पाती है ।'

भाषतवादी दूसरा विरूप—इसमें 'भक्ति' को ध्वनि का लक्षण माना गया है । 'लक्षण तु अस धारण धमवचनम्' अर्थात् समान एव असमान जातीय पदार्थों के भेद कराने वाले असाधारण धम को लक्षण कहते हैं जैसे पृथ्वी का लक्षण गन्धत्व है जो अपने समान जातीय द्रव्य अप, तेज वायु प्रकाश आकाश, दिक्, आत्मा, मन कान वशेषिक में कहे गये पृथ्वी सहित नौ द्रव्य) के लक्षण से भिन्न है । जलान्ति म प्राप्त गन्धत्व उसके पार्थिव अणु के ही कारण है । वेगन्त का पचाकरण प्रसंग इस बात का समर्थन करता है । पृथ्वी के असमान जातीय द्रव्य गुण कम, सामान्य, विशेष, समवाय आदि वशेषिक दगन में माने गये हैं । इनमें भी गन्धत्व न होने से इसे पृथ्वी का असाधारण धम माना गया है । यही गन्धत्व पृथ्वी का विशेष लक्षण है । लक्षण का अर्थ ही समानासमान जातीय से भेद करना ही है "समानासमान जातीयव्यवच्छिन्ने हि लक्षणाथ । अत यदि 'भक्ति' का ध्वनि का लक्षण माने, तो जहाँ-जहाँ भक्ति होगी वहाँ वहाँ ध्वनि की उपस्थिति अनिवाय होगी, परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है इससे भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते ।

भाषतवादियों के इस पक्ष को मानने पर अथ दोष भी दीख पड़ते हैं ।

१ अति-याप्ति दोष—अलक्ष्य में लक्षण का चला जाना ।

२ अव्याप्ति दोष—लक्षण का लक्ष्य में न पहुँचना ।

१ भक्त्या विभक्ति नञ्त्व रूपभेदादय ध्वनि । ध्वन्यालोक १/१४

इन दोनों शेषों पर प्रथम विचार किया जायगा। आनन्द' ने भी इसी को ध्यान में रखा है और कहा है कि "अति व्याप्तिरपाव्याप्तिरपि लक्ष्यते तथा।"<sup>१</sup>

अतिव्याप्ति वाला शब्द—यदि 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण है तो दोनों शब्द सग सग रहना चाहिए और समानासमान किमी दूसरे पदार्थ में यह गुण नहीं होगा चाहिए, परन्तु ध्वनि से भिन्न विषय में भी भक्ति होती है। प्राय देखा जाता है कि जहाँ व्यंग्य के कारण विरोध तो दूर नहीं होता, वहाँ भी कभी प्रसिद्धिवाग उपचार या गौणी वा प्रवृत्ति से व्यवहार होता है। इसी बात को ध्वन्यालोककार ने कई श्लोकों "१ परिम्लानम् पीनस्तन , ' चुम्बते घतवृत्तवो , " बुधित प्रसन्ना " "आयार्या प्रहारो " ' परायें पीडाभनुभवति " द्वारा स्पष्ट किया है। यहाँ व्यंग्य प्राधान्य ध्वनि के न होने पर भी 'वदति पृनखत, गृहीता, हरति दत्त और अनुभवति' पदों द्वारा लक्षणारूप भक्ति का आश्रय लिया गया है। परन्तु इन स्थानों पर ध्वनि का अवसर न होने पर यहाँ अतिव्याप्ति दाप है। इसमें भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते हैं। उपयुक्त सभी स्थानों पर लक्षणा होते हुए भी ध्वनि नहीं है, इससे भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते हैं। इनमें दूसरा शेष यह है कि यदि उपयुक्त वदति हरति आदि के स्थान पर इन शब्दों का पर्याय रख दें, तो इनमें कोई अचरत्व नहीं आयगा और लक्षणा के इन प्रयोगों में चारुता की वृद्धि भी नहीं होती है। इसके विपरीत ध्वनि में जहाँ उक्त्यंतर से जो चारुत्व प्रकाशित नहीं किया जा सनता है उमको प्रकाशित करन वाला व्यञ्जना व्यापार युक्त शब्द ही ध्वनि कहलाने का अधिकारी है।<sup>२</sup> उपयुक्त उदाहरणों में दूसरे शब्दों की उक्ति से चारुत्व का प्रकाशन होने में कोई अवरोध नहीं होता है। इससे स्पष्ट है कि भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते हैं।

(ख) बहुत से शब्द अपने एक विशेष अर्थ में रुढ़ हो जाते हैं। उदाहरणार्थ लावण्य शब्द अपने विषय लवणयुक्तत्व से भिन्न सौन्दर्यादि अर्थ में रुढ़ अर्थात् प्रसिद्ध हो जाता है। ऐसे शब्द भी प्रयुक्त होने पर ध्वनि का

१ ध्वन्यालोक १/१४

२ उक्त्यन्तेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।

गौणे व्यञ्जकताविभ्रद ध्वन्युक्तविषयो भवेत्।

विषय नहीं होते। इन शब्दों में उच्चरित गौण शब्द वृत्ति तो हैं, पर तु ध्वनि नहीं है। इस प्रकार के अर्थ उदाहरणों में यदि कही ध्वनि व्यवहार सम्भव भी हो, तो इस प्रकार के लावण्यादि से न हाकर प्रकारान्तर से होगा। यह शब्द सुन्दर अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है, जो इसका मुख्यार्थ नहीं है। प्रयोग बहुलता से ही ऐसा सम्भव हो सका है। यह रुढ़ि लक्षणा का उदाहरण है। इसमें भक्ति तो है पर तु व्यंग्य का अभाव होने से व्यंग्य प्राधान्य रूप ध्वनि नहीं है। इसी का समर्थन ध्वनिकार ने किया है कि "रुद्धा ये विषयेऽयत्र शब्दा स्वविषयादपि। लावण्याद्या प्रयुक्तास्ते न भवति तद ध्वनिः।"

(ग) लक्षणा के दो भेद रुढ़ि और प्रयोजन में हैं। रुढ़ि में तो भक्ति लक्षणा रहती है परन्तु प्रयोजन रूप व्यंग्य या ध्वनि नहीं रहती। प्रयोजन वाले भेद में प्रयोजन व्यंग्य होता है परन्तु यह प्रयोजन लक्षणागम्य न होकर व्यञ्जनागम्य होता है। इस दृष्टि से भी भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकता।

(घ) चौथा तर्क यह है कि निम्न फल (शतय पावनत्वादि) को लक्ष्य मानकर मुख्यवृत्ति (अभिधा) छोड़कर गुणवृत्ति लक्षणा द्वारा ही अर्थ बोध कराया जाता है उस फल का बोधन करने में शब्द बाधित अर्थ (स्खलदगति) नहीं है। यदि उस चारुत्वादिशय को प्रकाशित करने में शब्द गौण (बाधिताध) हो तो उस शब्द का प्रयोग दूषित माना जायगा। शतय पावनत्व का बोध कराना लक्षणा का प्रयोजन है, यह प्रयोजन व्यञ्जनागम्य है लक्षणागम्य नहीं। लक्ष्यार्थ के लिये मुख्यार्थ का प्रस्तुत होना और उसका बाध होना यह दोनों ही आवश्यक हैं। यदि शतय पावनत्व को ही लक्ष्य मानें, तो उससे पूर्व उपस्थित तट रूप अर्थ को मुख्यार्थ मानना और पुनः तात्पर्यानुपपत्ति और अर्थानुपपत्ति बाध (शब्द का स्खलदगति) का मानना आवश्यक है, परन्तु शतयादि के बोध के पूर्व उपस्थित होने वाला तट रूप अर्थ न तो गंगाशब्द का अर्थ ही है और न बाधित (स्खलदगति) ही है क्योंकि दिये गये उदाहरण गंगाया घोष में घोष के साथ आधार आधेय मानने में बाधा भी नहीं है। अतः सिद्ध है कि भक्ति और ध्वनि में अंतर है।

दूसरी बात यह है कि लक्षणा और व्यञ्जना व्यापार में विषय का भेद है। इस भेद के कारण दोनों में घम घमिभाव नहीं हो सकता है। घमिगत कोई घम विषय ही लक्षण होता है। ध्वनि और भक्ति में घम घमिभाव न होने से भी 'भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकता।

यह भी ध्यात देन योग्य तत्र है कि लक्षण वाच्यश्रित अभिधामूलकता है। वह विषय भेद होने से व्यञ्जना मात्राश्रित ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। विषयता सम्बन्ध से भक्ति का अधिकरण तीर और ध्वनि का शक्य पावनत्व है। अत एव विषय घटित स्वविषय विषयस्वरूप परम्परा सम्बन्धेन भक्ति के ध्वन्यवृत्ति हान से भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती इससे सिद्ध होता है कि वाच्यश्रित होना दायी गुणवत्ति भक्ति कवन व्यञ्जनामूलक ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। वहा भी है — वाच्यत्वा ध्वनयव गुणवत्तिव्यवस्थिता । व्यञ्जकत्वक मून्य ध्वने रमात्लक्षण वधम ॥

भाक्तवादीयों का अव्याप्तिवाला दोष—यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानें, तो उसमें अव्याप्ति दाप भी होगा। जो लक्षण लक्ष्य व एक दग म न रहे, उसे अव्याप्ति दोष भी रहता है। इसमें समानन के लिए ध्वनि के दो भेद अविवक्षित वाच्यध्वनि और त्रिविधित यपर वाच्य ध्वनि (अभिधामूला ध्वनि) पर ध्यात रचना चाहिए। यदि भक्ति का ध्वनि का लक्षण मानें, तो इन दोनों भेदा में भक्ति का उचितत्व अप्रमाण है परंतु अभिधामूला ध्वनि तथा ध्वनि व अ प भदो म भक्ति या लक्षणा यापन नहीं रहती। दूसरी बात यह है कि ध्वनि के इन भेदों में ध्वनि तो है पर लक्षणा नहीं। इससे भक्ति या लक्षणा को ध्वनि का लक्षण नहीं रहने। ध्वनि के अभिधामूला भेद में असलक्ष्य क्रम और मन्त्रयन्त्रम भेदा में रमात्लध्वनि ही मुख्य है। इसमें मुख्याय वाच्य का अवसर न होने से भक्ति को अव्याप्ति हो जाती है। इसी प्रकार इस ध्वनि के भेदों (रसाभास भाव भावभासादि) में भी मुख्याय वाच्यदि के विना ही रसादि की प्रतीति हान से भक्ति का प्रवण का अवसर नहीं है इस दृष्टि में भी अव्याप्ति के कारण भक्ति का ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते हैं।

भावनवादी का तृतीय विकल्प—भावनवादा मत में भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण मानते हैं। अवतमान व्यावतक धम को उपलक्षण कहते हैं। जैसे 'वाकवद देवदत्तस्य गृहम्' वाक्य में वाकवत्स्य देवदत्त के घर का लक्षण या विशेषण नहीं है किन्तु उपलक्षण है। जय गृहो स भक्त वताने र विष्णु ही अतीत काल में ध्वनि के गृह का वि धर पर वाक्य को दलकर अवतमान इस समय के गृह का वि ध्वनि का प्रभेद वाले ध्वनि का विषय भेद मानें, तो

का (काक्वद देवदत्तस्य गृहम्) के समान अविद्यमान व्यावृत्त उपलक्षण हो सकती है। ऐसा कहा जाने पर यह भी ही ठीक मानना चाहिए कि अभिधा व्यापार से ही समग्र अलवार वग भी लक्षित हो सकता है, तो वयाकरणो या मोमासको द्वारा अभिधा का लक्षण कर देना पर और उसका द्वारा समस्त अलवारों के लक्षित हो जाने से अलग-अलग अलवारों का लक्षण करना व्यर्थ ही है। ध्वनि का अस्तित्व तो प्राचीन लोगों ने भी स्वीकार किया है। अतः ध्वन्यालोक की प्रथम चारिका में ध्वनि के लिए जो 'भावतमाहुस्तस्यै' कहा गया है, उसका अब तक पूर्ण रूप से निराकरण किया गया तथा भक्ति न तो ध्वनि का लक्षण है और न ही उपलक्षण है। ध्वनि विराधी तृतीय पक्ष अलक्षणीयता वादी आनन्द चन्द्र ने ध्वनि विराधी जिन तीन पक्षों की कल्पना की है, उनमें तृतीय अलक्षणीयता वादी पक्ष सम्भावित पक्ष है। इसका निर्देश परोक्ष लिट् लकार 'ऊच' के प्रयोग द्वारा किया गया है। इस पक्ष वाले ध्वनि का अनुभव तो करते हैं परन्तु उसकी 'यास्या' की असम्भव बताते हैं। ध्वनिकार ने इसी से 'कश्चित् वाचा स्थितमविषये तत्त्वमुचुस्तदाय' का प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि इस पक्ष वाले ध्वनि को सहृदय सबद्ध मानते हुए भी उसे वाणी के लिए अग चर मानते हैं। ध्वनिकार ने इनको लक्षण करने में अप्रगल्भ कहा है "कश्चित् पुनलक्षणकरणाशालीन बुद्धयाध्वनेरतत्त्व गिरामगो चरम सहृदय हृदय सबद्धमव समाख्यातव त ।' अर्थात् लक्षण निर्माण में अप्रगल्भ बुद्धि ही तीसरे प्रकार के वाणी न ध्वनि के तत्त्व का केवल सहृदय हृदय सबद्ध और वाणी के पर अर्थात् अलक्षणीय अनिवचनाय कहा है। उनका मत से 'ध्वनि न शक्यते वणयितु गिरा तदा स्वयं तदन्त करणेन ग्रहयत' के समान है।

इस मत में ध्वनि के अस्तित्व में विश्वास के कारण यह एक सम्भावित पक्ष है। इस कल्पना या सम्भावना का आधार भरत का नाट्यशास्त्र, भामति का काव्यालंकार, उद्भट का भामह निवरण वामन का काव्यालंकार सूत्र और रुद्रट का काव्यालंकार है। यह पक्ष अज्ञान मूलक होने के कारण अभाववादी और भावतवादी की तुलना में कम दूषित है। इसमें ध्वनि का न तो स्पष्ट निषेध ही है और न उसका अपहृत ही किया गया है। इनके विचार में जब प्राचीन आचार्य ध्वनि मार्ग का स्पष्ट मात्र करके छोड़ गये हैं तो भगवन् लोग इसका लक्षण कैसे कर सकते हैं। इसी से इसे "ध्वनेस्तत्त्व गिरामगा चर सहृदय हृदय सबद्धेमा समाख्यातव त" कहा गया है।

समाधान—इस मत का पूर्ण ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक के प्रथम



यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि लक्षण वाच्यप्रति अभिधापुच्छमूला है। वह विषय भेद हाने से व्यञ्जना मात्राप्रति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। विषयता सम्बन्ध से भक्ति का अभिवरण तीर और ध्वनि का सत्य पावनत्व है। अतः एक विषय प्रति स्वविषय विषयस्त्व रूप परस्पर सम्बन्धेन भक्ति के ध्वन्यवृत्ति होने से भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती इसमें सिद्ध होता है कि वाच्यप्रति ही वाच्य गुणवृत्ति भक्ति क्वल व्यञ्जनामूलक ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। उदा. भी है — 'वाच्यस्त्वा ध्येणव गुणवृत्तिव्यवस्थिता। व्यञ्जवत्त्वं मूनस्य ध्वने रघात्सलक्षण वचन'।

भाष्यवादीयों का अभ्याप्तिवाला दोष—यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानें, तो उसमें अभ्याप्ति दोष भी होगा। जो लक्षण लक्ष्य के एक दण्ड में न रहे उसे अभ्याप्ति दोष भी कहते हैं। इससे समझ के लिए ध्वनि के दो भेद अविवक्षित वाच्यध्वनि और विवक्षित यथा वाच्य ध्वनि (अभिधामूला ध्वनि) पर ध्यान रखना चाहिए। यदि भक्ति का ध्वनि का लक्षण मानें, तो इन दोनों भेदों में भक्ति का अस्तित्व अप्रतिष्ठित परन्तु अभिधामूला ध्वनि तथा ध्वनि के अर्थ भेदों में भक्ति का लक्षण प्राप्त नहीं रहती। दूसरी बात यह है कि ध्वनि के इन भेदों में ध्वनि तो है पर लक्षण नहीं। इससे भक्ति का लक्षण को ध्वनि का लक्षण नहीं कहेंगे। ध्वनि के अभिधामूला भेद में असाक्ष्य प्रथम और मलक्ष्यप्रथम भेदों में रसाभाव ही मुख्य है। इसमें मुख्यतः वाच्य का अवसर न होने से भक्ति की अभ्याप्ति हो जाती है। इसी प्रकार इस ध्वनि के भेदों (रसाभाव मात्र भावभासादि) में भी मुख्यतः वाच्य के बिना ही रसादि की प्रतीति हाने में भक्ति के प्रवेश का अवसर नहीं है इस दृष्टि से भी अभ्याप्ति के कारण भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते हैं।

भाष्यवादी का तृतीय विकल्प—भाष्यवादी मत में भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण मानते हैं। अवतमान व्यावृत्त ध्वनि को उपलक्षण कहते हैं। जैसे 'काकवद देवदत्तस्य गृहम्' वाच्य में वाच्यत्व देवदत्त के घर का लक्षण या विशेषण नहीं है अपितु उपलक्षण है। जय गृहो से भेद बताने के लिए ही अतीत काल में कभी देवदत्त के घर पर काक को दण्डकर अवतमान इस समय उसके गृह का विशेषण अर्थ गृहो से किया जा रहा है। यदि भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण मानें, तो यह भक्ति वक्ष्यमाण प्रभेद वाले ध्वनि के किसी विशेष भेद

का (काकवद देवदत्तस्य गृहम्) के समान अविद्यमान व्यावृत्त उपलक्षण हो सकती है। ऐसा कहा जाने पर यह भी ही ठीक मानना चाहिए कि अभिधा व्यापार से ही समग्र अलङ्कार वग भी लक्षित हो सकता है, तो वयाकरणो या मोमासर्को द्वारा अभिधा का लक्षण कर देने पर और उसने द्वाग समस्त अलङ्कारो के लक्षित हो जाने से अलग-अलग अलङ्कारो का लक्षण करना व्यर्थ ही है। ध्वनि का अस्तित्व ता प्राचीन लोगो ने भी स्वीकार किया है। अतः ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में ध्वनि के लिए जो 'भाक्तमाहुस्त दये' कहा गया है, उसका अब तक पूण रूप से निराकरण किया गया तथा भक्ति न तो ध्वनि का लक्षण है और न ही उपलक्षण है। ध्वनि विरोधी तृतीय पक्ष अलक्षणीयता वादी आनन्दवद्वन ने ध्वनि विरोधी जिन तीन पक्षों की कल्पना की है, उनमें तृतीय अलक्षणीयता वादी पक्ष सम्भावित पक्ष है। इसका निर्देश परोक्ष लिट् लकार 'ऊच' ऋ प्रयोग द्वारा किया गया है। इस पक्ष वाला ध्वनि का अनुभव तो करते हैं परन्तु उसकी व्याख्या को असम्भव बताते हैं। ध्वनिकार न इसी से 'केचिद् वावा स्थितमविषये तत्त्वमुच्यते' का प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि इस पक्ष वाला ध्वनि का सहृदय संवेद्य मानते हुए भी उसे वाणी के लिए अगोचर मानते हैं। ध्वनिकार ने इनको लक्षण करने में अप्रगल्भ कहा है "कचित् पुनलक्षणकरणाशालीन बुद्धयोवनस्तत्त्व गिरामगो चरम् सहृदय-हृदय संवेद्यमव समाख्यातवत् ।" अर्थात् लक्षण निमाण में अप्रगल्भ बुद्धि कि हा तीक्ष्ण प्रकार के वादी न ध्वनि के तत्त्व को केवल सहृदय हृदय संवेद्य और वाणी के पर अर्थात् अलक्षणीय अनिर्वचनीय कहा है। उनका मत से 'ध्वनि न गक्यते वणयितु गिरा तदा स्वय तदत्त करसीन गृह्यते' के समान है।

इस मत में ध्वनि के अस्तित्व में विश्वास के कारण यह एक सम्भावित पक्ष है। इस कल्पना या सम्भावना का आधार भरत का नाट्यशास्त्र भागह का काव्यालङ्कार उद्भट का भागह विवरण, वामन का काव्यालङ्कार सूत्र और रुद्रट का काव्यालङ्कार है। यह पक्ष अज्ञान मूलक होने के कारण अभाववादी और भाक्तवादी की तुलना में कम दूषित है। इसमें ध्वनि का न तो स्पष्ट निषेध ही है और न उसका अपहृत ही किया गया है। इनके विचार में जब प्राचीन आचार्य ध्वनि भाग का स्थापना मात्र करके छाड़ गये हैं तो भगवन् अज लोग इसका लक्षण कैसे कर सकते हैं। इसी से हमें "ध्वनस्तस्य गिरामगो चर सहृदय हृदय संवेद्यमव समाख्यातवत्" कहा गया है।

समाधान—इस मत का अर्थ ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक की प्रथम

उद्योत के अंत में किया है कि यदि अथ लोका ने इस ध्वनि का स्वर भी कर दिया तो इससे हमारे ही मन की मिद्धि हो जाती है क्योंकि ध्वनि का अस्तित्व ही ध्वनिकार भी सिद्ध करना चाहता है और इस विरोधी पक्ष भी स्वीकार कर लेता है। इस ध्वनि व स्वरूप को ध्वनिकार न बनाया है कि यह ध्वनि प्रतिपादन परक्युवित विद्वन्मनमूत्रक है। यों ही अप्रामाणिक स्वकल्पित रूप में इसे प्रचलित नहीं किया गया है। प्रथम विद्वान् वयाकरण हैं और व्याकरण सभी विज्ञानों का मूल है। वयाकरण सुनाई देने व लक्षणों का ध्वनि कहते हैं। इसी प्रकार इनके मत को मानने वाले वाचनखंडों अथ विद्वानों ने भी वाच्य वाचकव्यंग्याय, व्यापार और वाच्य पद से व्यवहार इन पादों को ध्वनि कहा है। अतः स्पष्ट है कि इसका कारण पहले से किया जा रहा है अतः अलक्षणीयता का दोषारोपण निरर्थक सिद्ध हो जाता है।

ध्वनि के विभिन्न अर्थ और लक्षण—ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से हो सकती है। ध्वनतीति ध्वनि' इस व्युत्पत्ति से वाच्य और वाचक का, 'ध्व-यन्त इति ध्वनि' से व्यंग्याय का ध्वनन ध्वनि सद्यः-जना व्यापार का और 'ध्व-यन स्मिन्निति ध्वति' से पूर्वोक्त ध्वनि चतुष्टय युक्त वाच्य का बोध होता है। यह व्याख्या लोचनकार' के अनुसार है। इस प्रकार अर्थों के द्वारा ध्वनि का लक्षण कर देने पर ध्वनिकार जनन को अभिमत सिद्ध वाला समझने लगता है 'स च प्राग्गेव ससिद्ध इति । अयत्न सम्पन्न समाहितार्थ सम्पत्ता स्म ।'

ध्वनिकार ने ही कई स्थान पर और कई रूपों में ध्वनि का स्पष्ट लक्षण करके अलक्षणीयतावाद का सङ्गन किया है। प्रथम उद्गान की तरहवा कारिका इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये है। यथा —

यथाय शब्दो वा तदधुपसज्जीकृत स्वाधौ ।

व्यङ्ग्यत काव्यविशेष स ध्वनिरिति गुरिभि कथित ॥

१ गुरिभि कथित इति विद्वदुपनयमुक्ति त तु यथा कथञ्चित् प्रवर्त्तति प्रतिपाद्यते प्रथमे हि विद्वानो वयाकरणा व्याकरणमूलत्वात् सवविद्यानाम् । ते च यूममाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरति । तथवा-मस्त-मत्तानुगारिभि गुरिभि वाध्यतत्वात् दर्शभिर्वाचकसमिथ्या-दारमा काव्यमित व्यपन्ना व्यञ्जकत्व साम्याद् ध्वनिरित्युक्त । ध्व-यालाक प्रथम उद्योत ।

अर्थात् जहाँ अथ स्व को अथवा गण अपने अथ को गुणीभूत करने उस प्रतीयमान अथ को अभिव्यक्त करते हैं उस वाच्य विशय को विद्वान लोग ध्वनि काव्य कहते हैं। यहाँ 'व्यङ्ग्य' पद द्वारा द्विवचन का प्रयोग सूचित करता है कि व्यंग्य अथ की अभिव्यक्ति में शब्द और अथ दोनों ही कारण होते हैं। पहला प्रधान कारण और दूसरा सहकारी कारण। 'यत्राय शब्दो वा' में 'वा' पद शब्द और अथ के प्राधान्याभिप्रायण विकल्प को बाधित करता है। इसी कारण गान्धी और आर्थो दा प्रकार की व्यञ्जना मानी गई है। अतः जि होने सहृदय सवद्य ध्वनि की आत्मा को जवणनीय अलक्षणीय कहा है, उन्होंने भी सोच समझकर नहीं कहा है क्योंकि ध्व मालोकार ने ध्वनि के सामान्य और विशेष लक्षण बड़े प्रकार से प्रतिपादित किया है। इनके पर भी यदि इसे अलक्षणीय कहा जाता है तो ऐसी अलक्षणीयता तो सभी वस्तुओं में आ जायगी।

ध्वनि के सामान्य और विशय लक्षणों की चर्चा निम्नलिखित स्थानों पर ध्वनिवार ने की है —

१ षोडश सहृदय श्लाघ्य काव्यात्मनि व्यवस्थित १/२ ध्वन्यालोक इसमें प्रतीयमान अथ के गण की चर्चा की गई है। यह अथ सहृदय श्लाघ्य है काव्य की आत्मा है एसा निश्चित किया गया है। इसी वारिका की वृत्ति में स्पष्ट किया गया है कि काव्यस्य हि लभिताचित् सन्निवेशचारुण शरीर स्ववात्मासारस्य तथा स्थित। सहृदय श्लाघ्य याऽथ । शरीर म आत्मा के समान सुन्दर उचित रचना के कारण रमणीय काव्य के सार रूप में स्थित सहृदय प्रशंसित वह अथ मानना चाहिए।

२ केचित् पुनलक्षणकरणशालीन बुद्धया ध्वनेस्त्व गिरामगाचर सहृदय हृदयसवेद्यमेव समाख्यातवन्तः ।

३ प्रतीयमाना पुनरप्यवेद्य वस्त्वस्ति व णीपु महाकविनाम ॥

यत तत् प्रमिदावद्यवाति रिक्त विभानि लावण्यनिचाणनासु ॥१४

“यथा हि अ गनासु लावण्य पृथक् निवण्यमान निखिलावयवव्यतिरिक्त निमपयदव सहृदयलाचनामृत तत्वात्तर तदवदेव सोऽथ ॥” प्रतीयमान अथ अथ ही होता है, जो महाकवियों की वाणी में प्राप्त होता है। यह अथ सुन्दरियों में जैसे अवयव से भिन्न उनका सौम्य हाता है, उसी प्रकार प्रतीयमान अथ भी वाच्य अथ से भिन्न सहृदय के लिये अमृत तुल्य कोई अथ ही तत्व होता है। इसमें दो बातें बताई गई हैं (१) प्रतीयमान अथ महाकवियों की वाणी में ही

प्राप्त होता है (२) वह अवयवादि से भिन्न कोई और ही तत्व है, जो इनमें रहते हुए भी इनसे (वाच्यादि) भिन्न होता है ।

४ 'अर्थो गुणीवृतात्मा गुणीवृताभिधेय , गदो वा यत्रार्थान्तरमभि व्यनक्ति स ध्वनिरिति ।' जहाँ अर्थ अपन को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणी-भूत करके अर्थान्तर (प्रतीयमान) को अभिव्यक्त करते हैं उसे ध्वनि कहते हैं । यहाँ अर्थ प्रतीयमान होने मात्र से ध्वनि सन को प्राप्त नहीं करता, अपि तु व्यंग्याय की प्रधानता में ही ध्वनि की स्थिति स्वीकार की गई है ।

५ यत्रार्थो वाच्यविशेष , वाचक विशेष शब्दा वा तमथ व्यङ्ग्यत स काव्यविशेषो ध्वनिरिति ।

६ वच्य यतिरित्यस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र यत्र प्रधाने स ध्वनि । वाच्याय स भिन्न अर्थ का वाच्यवाचक द्वारा तात्पर्य रूप से व्यंग्य का प्राण यहाँ हुआ है जहाँ प्रकाशित किया जाता है उसको व्यंग्य कहते हैं । इस स्वरूप निर्धारण में चार बात स्पष्ट होती हैं (१) वह अर्थ वाच्याय से भिन्न होता है (२) उसका प्रकाशन वाच्य वाचक के द्वारा ही किसी न किसी रूप में होता है । (३) यह अर्थ तात्पर्य रूप से व्यक्त होता है । (४) इसमें व्यंग्याय की प्रधानता होती है ।

७ उक्त्यन्तरेणागव्य यत् उच्चारत्वं प्रकाशयन् ।

गङ्गे अञ्जना त्रिभुद ध्व पुक्नेविषयो भवत् ॥१११५

जो चारत्व किसी अर्थ उक्ति से प्रकाशित नहीं किया जा सकता है, उसको प्रकाशित करने वाला व्यञ्जना व्यापार युक्त शब्द ही ध्वनि कहलाने का अधिकारी हो सकता है । इस स्वरूप से स्पष्ट है कि (१) शब्द व्यञ्जना व्यापार से युक्त होना चाहिए (२) उसके द्वारा एक विशय चारत्व का प्रकाशन होना चाहिए यह चारत्व किसी दूसरी उक्ति द्वारा सम्भव नहीं हो सकता ।

८ "तस्य हि ध्वनं सुकलसत्त्वविषाव्योपनिषद्भूत अतिरमणीय अणीयसोभिरपि चिरत्न काव्य लक्षण विधायिना बुद्धिभिरनुमिलितपूर्वम् ।" उस ध्वनि का स्वरूप समस्त सत्त्वविषयों के काव्या का परम् रहस्यभूत अत्यन्त सुन्दर प्राचीन लक्षणकारों की सूक्ष्मतर बुद्धियों से भी अप्रसृष्टि ही रहा है । इस वाक्य में दो विगणताओं की चर्चा हुई है । (१) सत्त्वविषय के काव्यों का वही रहस्यभूत तत्त्व है तथा अत्यन्त सुन्दर है (२) उसकी स्थिति तो सदा से रही है, पर प्राचीन काव्य लक्षणकारों की बुद्धि से भी प्रकाशित नहीं हो सकी है ।

उपयुक्त सभी उद्धरणों में ध्वनि का लक्षण किसी न किसी रूप में दिया गया है। इससे ध्वनि की स्थिति मानते हुए उस पर अलक्षणीयता का जो आरोप लगाया जाता है, उसका अपने आप ही निराकरण हो जाता है। ध्वनिकार ने आगे चलकर एक ही वाक्य द्वारा सभी पूर्वपक्षियों का खण्डन कर दिया है। उन्होंने प्रयुक्त वाक्यादा सबल सत्त्ववि वाच्योपनिषद्मूढ अतिरमणीय अनीयसीभिरपिचिरन्तन काव्य लक्षण विधायिना बुद्धिभिरनुमितपूर्वं स क्रमण 'कस्मिदचदप्रकारलेणे' वाल भावतवादी मत का अपूर्व समाख्यामात्र करणे' से गुणालकार अतमू तत्ववादी का खण्डन किया है। इसके उपरान्त, अथ च शब्द के प्रयोग से 'तत्समयात् पातिन वादिचत् पक्ष का तथा रामायण के नामोल्लेख से यह ध्वनि किया गया है कि लौकिक साहित्य के आदि से ही सबने उसका आदर किया है। अतः इस स्वरूप निर्धारण में ध्वनि विषयक स्वकल्पित दोष नहीं है। इस प्रकार 'लक्षयता' पद से यह व्यक्त किया गया है कि यह ध्वनि वाचा स्थितमविषय' नही हो सकता है। इस प्रकार सभी सम्भावित पूर्वपक्षियों का निराकरण करते हुए बताया गया है कि यह ध्वनि अलक्षणीय नहीं है।

## अभिधावादी और व्यजना

प्राचीन सस्कृत लौकिक साहित्य के पदचालकालीन युग में लक्षण ग्रन्थों के निर्माण की जो परम्परा चल पड़ा थी, उसमें विभिन्न धाराओं के मनीषियों ने स्वामिमत काव्य सम्प्रदायों की स्थापना की। कालक्रम से साहित्य में क्रमशः रस, अलंकार, रीति और वक्राति सम्प्रदायों का उत्तरोत्तर विकास होता चला गया और अन्ततोगत्वा ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना करने की प्रबल आकांक्षा को लेकर साहित्य में आनन्दवधनाचाय या ध्वनिकार का उदय हुआ। इन्होंने देवी शती में अपने पूर्ववर्ती सभी प्रचलित सम्प्रदायों को अपने इस सम्प्रदाय की परिधि में लाकर खड़ा कर दिया तथा ध्वनि के अगित्व का प्रतिपादन करते हुए अन्य सम्प्रदायों को अग रूप में मानने का अधिक प्रयास किया। आगे चल कर मम्मट की प्रतिभा का संयोग पाकर यह सम्प्रदाय बना ही प्रबल हो गया और सभी विरोधियों के मुख सबदा के लिए बन्द कर दिये गये। इन दोनों के प्रयास से ध्वनि का जो रूप उपस्थित किया गया वह अपनी महाविषमता के कारण आज तक सर्वमान्य है। इन्होंने काव्य की आत्मा ध्वनि को माना है। "काव्यास्यात्मा ध्वनिः।" परन्तु इस अवस्था को पहुँचने के लिए आरम्भ में बहुत से विरोधियों का सामना करना पड़ा। विरोधियों के इन प्रयासों से ध्वनि की उपादेयता और अधिक सिद्ध होती चली गई तथा ध्वनियुक्त काव्य को ही उत्तम काव्य माना जाने लगा। इस लिए ध्वनिवाधियों को निम्नलिखित विचार सम्प्रदायों का सङ्गन करना पड़ा—

- १ नयाकरणमत
- २ साहित्यिक मत कुञ्जर ।
- ३ वेङ्कटी मत अक्षण्णतायतावाणी ।
- ४ नयायिक मत महिमभट्ट ।
- ५ मोमासकों का मत—कुमारिल, प्रभाकर, भट्टनाटक, मुकुलभट्ट ।

६ महिमभट्ट का अनुमान ।

१।७ धनञ्जय और घनिक को अभिधा और तात्पर्या ।

१। ध्वनिकारने ध्वन्यालोक में पहिले ही तीन प्रकार के विरोधियों (अभाववादी अलक्षणीयतावादी और भाक्तवादी) का खण्डन कर दिया था । और व्यञ्जना की स्थापना उ होने कर दी थी । इस व्यञ्जनावाद का निराकरण करने के लिए ध्वनिकारक विरोधियों का जो बग समक्ष आया उनमें मुकुल भट्ट (अभिधानुत्तिमातका) धनञ्जय (दसरूपक), भट्टनायक (हृदयदपण), लक्ष्य और व्यग्य का भी अभिधा में ही अतर्भाव मानने वाले अभिधावादी कुस्तक (वक्रोक्ति जीवितम्), महिम भट्ट (यत्तिविवेक), आदि हैं ।

सुविधा के लिए शब्द की शक्ति के आधार पर विरोधियों को निम्न लिखित वर्गों में माना जा सकता है—

१ अभिधा द्वारा व्यग्याय का बोध मानने वाले—प्रभाकर भट्ट, धनञ्जय और अलकारवादी (समासाक्ति, ध्याजोक्ति आक्षेप आदि अलकारों में) मुकुल भट्ट ।

२ तात्पर्या द्वारा व्यग्याय को बोध मानने वाले—बुगारिल भट्ट, घनिक भट्टलोल्लट प्रभृति—

३ लक्षणा द्वारा व्यग्य बोध मानने वाले ।

४ वेदान्तियों का अलक्षणीयतावादी ।

१। अभिधा शक्ति से व्यग्याय बोध का निराकरण—व्यञ्जना के अभिधावादी विरोधियों के अनुसार अभिधा द्वारा ही प्रतीयमान अर्थ का बोध हो जाता है । अतः उसके लिए व्यञ्जना जसी अलग शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है । इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्त पक्षी (ध्वनिवादी) सवप्रथम अभिधा से अतिरिक्त व्यञ्जना की सिद्धि स्वतंत्र रूप में करता है और विभिन्न उक्तियों द्वारा अपने मत का समर्थन करता है ।

व्यञ्जना की अलग सत्ता का आधार—साहित्य दपणकार ने अभिधा से व्यञ्जना की अलग सत्ता सिद्ध करने के लिए सख्या स्वरूप काल, आश्रय, निमित्त, व्यपदेश, काय विषय आदि के आधार को ग्रहण किया है ।<sup>१</sup> और इस प्रकार वाच्य और प्रतीयमान अर्थ की अलग स्थिति मानी गई है ।

१ बौद्ध स्वरूप सख्या निमित्त काय प्रतीति कालानाम् ।

आश्रय विषयादीना भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यग्य । सा० दपण



(क) बौद्ध के आधार पर अभिषया और ध्यजना की भिन्नता—ध्वया सोवकार न बताया है कि पद पदाय म ध्युत्प न सभी विद्वानों का वाच्याय की प्रतीति हो जाती है। परन्तु प्रतीयमान अथ का अनुभव व ज्ञान केवल सहृदय को ही हो सकता है। अतः शब्दाय शासन ज्ञान मात्र से ही इस प्रतीयमान अथ का ज्ञान नहीं हो सकता है, अपि तु वाच्याय तत्त्वन सहृदय ही उसका ज्ञाता हो सकता है।<sup>१</sup> इस प्रकार बौद्ध की मानसिक स्थिति अर्थात् सहृदयता और सत्कार के आधार पर वाच्य अथ प्रतीयमान अथ से भिन्न हो जाता है। इसी से आर्यो यज्जना का भेद बताते हुए 'बोधव्य' की महता को स्वीकार किया गया है।<sup>२</sup> यहाँ पर बोधव्य का अभिप्राय प्रतिपाद्य है, अर्थात् जिसके बोध कराने के लिए बात कही गई हो "बौद्ध योग्य बोधव्य बौद्ध अर्थात् बोधयितुम् अतर्भावितुमित्यय ।"

(ख) स्वरूप के आधार पर दोनों में भेद—वाच्य और प्रतीयमान अर्थों के स्वरूप में भी भिन्नता है। इन दोनों का विशुद्ध वर्णन ध्वयालोक के प्रथम उद्योत की प्रथम कारिका से बारहवीं कारिका तक किया गया है और बताया गया है कि जैसे स्त्रियों के अवयवों से भिन्न उनका लावण्य उन्हीं में रहता हुआ भी उनसे भिन्न सत्ता वाला होता है। उसी प्रकार प्रतीयमान अथ वाच्य अथ पर आधारित होकर भी उनसे सवथा भिन्न होता है और लावण्य के समान ही यह अथ सहृदयों को चमत्कृत करता है। अतः वाच्याय से इसकी भिन्नता स्वतः सिद्ध है।

(१) वाच्याय सदव शब्द के शासन के अनुसार रहता है, अर्थात् शब्दों के प्रयोग के अनुसार ही वाच्य अथ होता है। परन्तु प्रतीयमान अथ का वाच्याय के अनुकूल होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार दोनों के स्वरूप में स्पष्ट रूप से अंतर दिखाई पड़ता है यथा—

(२) कही वाच्य अथ विधि रूप होता है और व्यग्याय निषेध रूप—  
भम धम्मिअ बीसत्थो सो मुण हो अज्ज मारिओ देण ।

१ गोलाणइक्कच्छ कुडगवासिणा दरिअ सीहेण ॥ -८

१ शब्दाय शासन ज्ञानमात्रणव न वेद्यते ।

वेद्यते स तु वाच्याय तत्त्वन रेव कवलम् ॥ ध्वयालोक १/७

वाच्य प्रकार ३/२१-२२

२ प्रतीयमान पुनरयदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत यत् प्रमिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवोपगामु ॥

ध्वयालोक प्रथम उद्योत १/४

यहाँ वाच्याय विधि रूप है अर्थात् हे घामिक, अब तुम निश्चित होकर घूमो।' परन्तु व्यग्याय निषेध रूप है अर्थात् पहल तो तुम्हारे काय मे बाधा डालने वाला कुत्ता या परन्तु अब हप्त सिंह आ गया है और वह इसी गोदावरी के तट के कुज में रहता है। अतः प्रकट है कि कुत्ते की अपेक्षा सिंह अधिक भयानक होता है। उसकी उपस्थिति मे तुम्हारा यहाँ ठाना हितकर न होगा अतः मत आना। इस प्रकार स्वर विहारिणी नायिका अपन सञ्चेत स्थल के काय व्यापार को निश्चित समाप्त कर देना चाहती है।

(२) वाच्य निषेध रूप और व्यग्याय विधि रूप—

अत्ता एत्थ णमिञ्जइ एत्थ भह दिअहए पलोएहि ।

मा पहिअ रत्तिअघअ सेञ्जाए मह णिमञ्जहिस्सि ।।

यहाँ वाच्याय निषेध रूप है कि मेरी शय्या पर रात्रि मे न आना, परन्तु प्रतीयमान अथ आने के निमन्त्रण में है, क्योंकि श्राय शय्या पर निमन्त्रित रहती है तथा मैं इस शय्या पर सोती हूँ। इसे भली भाँति देख लो, ऐसा कहना निमन्त्रण की ओर ही सञ्चेत कर रहा है। अतः प्रतीयमान अथ विधि रूप हुआ।

(३) वाच्य विधि रूप, प्रतीयमान अनुभव रूप—

वच्च महविअ एक्के इहोतु णीसासरोइअब्बाई ।

मातुञ्ज वि तीअ विणा दाक्खेण हअस्स जाअन्तु ।।

इस गाथा मे 'उसी क पास जाओ' यह वाच्याय विधि रूप है। परन्तु प्रतीयमान अथ न विधि है न निषेध रूप है, क्योंकि यह उक्ति खण्डिता नायिका की है और हमसे त्रोध की व्यञ्जना हो रही है। भाव यह है कि 'तुम जाओ।' में अकेले ही इस विश्वास और रोते को भोगू। कही दाक्षिण्य के चक्कर मे पड़कर, उसके बिना तुमको भी यह सब न भोगना पड़े।

(४) वाच्य निषेध रूप और व्यग्य अथ अनुमय रूप—

दे आ पसिअ णिवत्तमु मुहससिजोह णा विलुत्ततमणिवहे ।

अहि सारिआण विग्घ करोसि अण्णाण वि ह्यासे ।।

'प्रसन्न हो जाओ, लौट आओ, अपने चन्द्रमुख की ज्यात्सना से अघ कार को लुप्त करने वाली तुम अन्य अनिसारिकाओं के काय मे भी विघ्न डालती हो।' यहाँ वाच्य अथ निषेध रूप है और व्यग्य अथ अनुमय रूप है। यहाँ घाटुकारिता रूप व्यग्य की प्रतीति हो रही है।

इस प्रकार विदित हो जाता है कि वाच्य और व्यंग्य अर्थ के स्वरूप में भिन्नता हाती है। वाच्य के विधि रूप या निषेध रूप होने पर आवश्यक नहीं है कि व्यंग्य अर्थ भी विधि रूप या निषेध रूप ही हो। वह उसके विपरीत भी हो सकता है और अनुभव रूप भी हो सकता है। वही वाच्याय निन्दा रूप और व्यंग्याय स्तुति रूप भी हो सकता है।

(ग) सत्या भेद से वाच्याय और व्यंग्याय में भिन्नता—व्यवहार में यह भी देखा जाता है कि वाच्याय सदा सदात् सवेतित अर्थ को ही आधार बनाता है वह सदा नियत और एक रूप ही रहेगा। चाहे शब्द का प्रयोग किसी भी प्रकार किया जाय परन्तु उसकी एक रूपता में विभेद नहीं हो सकता है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ तत् तत् प्रकरण, वक्ता और श्रोता आदि को व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ नानात्व का रूप धारण करता है।<sup>१</sup> इस प्रकार व्यंग्य अर्थ कई हो सकते हैं। जबकि वाच्याय एक ही होता है। यथा—“गतोस्तमकं सूय वरत हो गया। इस वाच्याय का प्रकरण, वक्ता, बौद्ध आदि से व्यंग्याय कई हो सकते हैं। जैसे—सेनापति पक्ष में—शत्रुओं पर आक्रमण कर दो, अभिसारिका पक्ष में—अभिसार करने का समय हो गया है, प्रतीक्षा करने वाली पत्नी के पक्ष में—तुम्हारे पति आने ही वाले हैं, धर्मिक पक्ष में—कर्म करने से निवृत्त हो जाओ धार्मिक पक्ष में—सध्या वदन का समय हो गया, बाहर खेलने वाले बालक के पक्ष में—दूर न जाना, गोपाल के पक्ष में—गायों की घर में प्रवेश कराओ आदि वक्ता और बाह्य के हिसाब से व्यंग्य अर्थ की अनेक सभ्या हो सकती है। जत सभ्या के आधार पर भी वाच्याय सदा नियत और एक होता है। और व्यंग्याय अनियत और अनेक हो सकते हैं। इस प्रकार 'वास्य वान भवति रोला । वाते श्लोक में भी कई व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है।

(ग) निमित्त भेद—वाच्याय वाच्य का कारण तथैतत्पह है अर्थात् शब्द के उच्चारण मात्र से जिस साध अर्थ का ज्ञान होता है वही वाच्य र्थ होता है परन्तु व्यंग्याय का ज्ञान उमो को हो सकता है। जिसकी प्रतिभा निमल हो

२ (i) सांघो यस्मात् वक्तु वाच्यायतत्त्व तरेव जायते । यदि च वाच्य रूप एवाभावः स्यात् तद् वाच्य बोधस्वरूपपरिज्ञानादव तत्प्रतीति स्यात् । पृ० प्रथम उ० पृ० ४६

(ii) वेदने म तु वाच्यायतत्त्व तरेव वदन्म् । व्यंग्यायक पहल उद्योत

और जो सहृदय काव्यतत्त्वज्ञ हो ।<sup>१</sup> अतः दोनों प्रकार के अर्थों के ज्ञान के लिए 'मिमिक्षा' में भी अन्तर होने से दोनों में भेद माना जायगा ।

(ड) काय भेद—दोनों में कार्य का भी भेद है । वाच्याय केवल अर्थ प्रतीति मात्र कराता है । इससे वस्तु, वण, गुण आदि के सम्बन्ध में एक सामान्य ज्ञान की प्रतीति हाती है । परन्तु प्रतीयमान अर्थ चमत्कार का जनक होता है ।

(घ) प्रतीति भेद—वाच्याय की प्रतीति अर्थ रूप में और व्यङ्गाय की चमत्कार रूप में होती है । अतः दोनों की प्रतीति में भी भिन्नता है ।

(छ) काल भेद—वाच्याय का ज्ञान हो जाने के उपरांत ही व्यङ्गाय का ज्ञान होता है, यद्यपि इस प्रश्न का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, फिर भी उन दोनों में पूर्वापर सम्बन्ध रहता ही है । अतः इन दोनों के ज्ञान में काल का भी भेद रहता है ।

(ज) आश्रय भेद—वाच्याय शब्द के आश्रित रहता है और व्यङ्गाय शब्द के अतिरिक्त शब्दात्, अर्थ वण, सघटना तथा शब्द के एकदेश प्रकृति प्रत्यय, आदि में भी रह सकता है । अतः आश्रय का भी भेद है ।

(झ) विषय भेद—वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ के विषय में भी भेद हो सकता है । ऊपर के उदाहरणों में, जहाँ स्वरूप के आधार पर वाच्याय और व्यङ्गाय के भेद की बताया गया था वहाँ चारों उदाहरणों में वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ के विषय प्रमथ एक ही है अर्थात् दाना के विषय धार्मिक, पथिक, प्रियतम और अभिसारिका हैं । परन्तु वही कही पर दोनों के विषय में भिन्नता भी होती है । जैसे—

वास्य वा न भवति रोपो दृष्ट्वा प्रियाया सन्नमधरम् ।

सन्नमर पद्माघ्रायिणि चारितवामे सहस्वेदानीम् ॥

अपनी प्रिया के अधर-अन्न की देखकर बिसको रोप नहीं होता । मना करने पर भी अन्नरयुक्त कमल की सूघने वाली, अब तू इसका फल भोग ।" यहाँ चौथरति के समय अविनीता के अधरो मन्न देखकर उसका पति उसे

१ अथि ३ वाच्योरथ सर्वान् प्रतिपत्तद् प्रति एक रूप एवेतिनियतोऽप्यो प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवन्तप्रतिपर्यादि विशेषसहायतया नानात्व भजत । का० पृ० ५ उल्लास

वही व्यभिचारिणी न समझ बटे, इसलिए उसकी सखी पास में वत्तमान पति को अनदेखा सा करती हुई उसे सुनाकर उक्त बचन को कहती है। इस प्रसंग में वाच्याय का विषय तो वह दुश्चरित्रा स्त्री है। परंतु व्यग्याय यह है कि यह अधर व्रण परपुरप जय न होकर भ्रमर दश जय है। अतः इस रस का अपराध नहीं है। इस व्यग्य का विषय नायक है। अतः दोनों के विषय भेद से भी दोनों में भेद माना जायगा, इसी प्रकार इस पद्य में वाच्याय का विषय सदाव्यभिनीता स्त्री ही होगी, परंतु व्यग्याय का विषय प्रतिपायक सखी, पत्नीसी आदि भी हो सकते हैं।

इस प्रकार वाच्य अथ और वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यग्य में भेद दिखाने के लिए अभी तक उपयुक्त जितनी उचितया दी गई हैं, उन सबका आधार प्रतीयमान अथ का एक विशेष भेद वस्तु मात्र रहा है, अलंकार और रसादि भेद में भी यह प्रतीयमान अथ वाच्याय से भिन्न होता है। ध्वनिलोक के द्वितीय उद्योत में अलंकार भेद की वाच्याय से भिन्नता प्रतिपादित की गई है रसवनि में भी प्रतीयमान अथ वाच्याय से भिन्न ही होता है। क्योंकि—

क्या रस वाच्य है ?—रसादि लक्षण भेद वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर ही प्रकाशित होता है साक्षात् न द व्यापार का विषय नहीं होता है। अतः यह भी वाच्याय से भिन्न ही होगा यदि इस प्रतीयमान रसादिलक्षण अथ को वाच्य का विषय माना जाय तो यह दो प्रकार से सम्भव हो सकता है।

(१) स्वशब्द वाच्य हो सकता है अर्थात् शब्दार्थ आदि रसों का नाम मात्र ले लेने से इसकी वाच्यता।

(२) विभावादि के प्रतिपादन द्वारा रस की वाच्यता होगी।

यदि पहिले को ग्रहण करें तो स्वशब्द से निवेदित न ज्ञान से रसादि का अनुभव न होगा, जहाँ वही अनुभव होता भी है वहाँ विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा ही होगा। अतः सब स्थानों पर स्वशब्द वाच्यता का महत्त्व नहीं होता है। सत्ता शब्दों से वह उत्पन्न नहीं होता, केवल उसका अनुवाद ही संभव है और यदि केवल रसादि के सत्ता शब्दों का प्रयोग किया जाय तो उगम कृत् भी रसवत्ता नहीं होती। अतः स्पष्ट है कि रसादि सत्ता शब्दों के अभाव में भी

१ तृतीयस्तु रसादिलक्षण प्रभेदो वाच्यमामर्थ्याङ्गित प्रकाशित न तु साक्षाच्छब्द व्यापार विषय इति वाच्याद् विभिनत्त्वम् । न्याया० प्र० उ० पृष्ठ २६ ।

विशिष्ट विभावादि से ही रस की प्रतीति होती है और विभावादि के न रहने पर केवल सत्ता शब्द के प्रयोग से रसादि की प्रतीति नहीं होती है। अतः अर्थ व्यतिरिक्त स भी वाच्य सामर्थ्य से अक्षिप्त ही रसादि होते हैं, कभी भी वाच्य नहीं हाने।<sup>१</sup> इस प्रकार 'प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता वाले ध्वनि के तीन भेदों वस्तु ध्वनि अलंकार ध्वनि और रस ध्वनि में वाच्य अर्थ और प्रतीयमान इन दोनों प्रकार के अर्थों की अलग अलग सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। अतः अर्थ साधक उक्तियों द्वारा दोनों प्रकार के अर्थों की भिन्नता बताई जायगी।

**साहित्य शास्त्र की दृष्टि से व्यञ्जना की सिद्धि—**

दुष्ट प्रयोग के आधार पर व्यञ्जना की सिद्धि—अभी तक वाच्य और प्रतीयमान अर्थ की भिन्नता का प्रतिपादन किया गया है। और जहाँ पर प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता होती है वही पर ध्वनि कही जाती है। शब्द की जिम शक्ति द्वारा इस ध्वनि का बोध सहज्यो को होता है, उसे व्यञ्जना शक्ति कहते हैं। यह व्यञ्जना अभिधा शक्ति से निश्चित रूप से भिन्न है क्योंकि अभिधा से वाच्य अर्थ का ही बोध होता है, परन्तु व्यञ्जना से प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता वाले वाच्य का बोध होता है। अतः दोनों में भिन्नता है। इसी भिन्नता का प्रतिपादन काव्य प्रकाश के पञ्चम उल्लास में विभिन्न साहित्यिक उक्तियों द्वारा लिया गया है। आचार्य मम्मट ने बताया है कि काव्य में बहुधा देखा जाता है कि किसी शब्द के अर्थ में उलट फेर कर देने से उन शब्दों के साधु प्रयोग के स्थान पर दुष्ट प्रयोग हो जाता है और उनसे अश्लीलत्व की व्यञ्जना होन लगती है। यदि ऐसे स्थानों पर व्यञ्जना शक्ति को न माना जाय तो अभिधा द्वारा इस प्रकार के 'दुष्ट प्रयोग' का अवसर ही नहीं आ सकता है। उदाहरणतः 'कुक्षु रश्मि' पद का सामान्य अर्थ स्पष्ट ही है। यदि इसी को उलटकर 'रश्मिकुक्षु' कर दिया जाय तो यह 'दुष्ट प्रयोग' हो जाता है, क्योंकि इस पद में जो श्रूयमाण 'विद्धु' शब्द है, उससे एक असम्बन्ध अर्थ (मगनासा या श्मी का जो यद्धु) निकल पडता है। यदि अभिधा द्वारा केवल एक अर्थ अर्थ का ही बोध माने, जसा मीमांसक मानते हैं तो इस अश्लील अर्थ की जो व्यञ्जना यहाँ हो रही है उसका बोधक क्या अभिधा ही होगा? वास्तव में यह अर्थ अभिधाय नहीं कहा जा सकता है यदि एक क्षण के लिए,

१ तस्मादर्थव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्यानिष्पत्त्वमेव रसादीनाम् न त्त्रभिधेयत्व कश्चित इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् भिन्न एवति स्थितम्। ध्व० प्र० उ० २६।

इसे अभिधेय मान भी लें, तो यह अर्थ जो 'कुरु रुचिम्' के शब्द क्रम को उलट कर 'रुचिम् कुरु' करने से बना है, यह इन दोनों शब्दों का अविगत अर्थ तो ही ही नही सकता है, क्योंकि 'चिह्न' शब्द 'रुचिम्' व 'चिम्' और 'कुरु' के 'कृ' के योग से बना है जो 'रुचिम्-कुरु' का अविगत अर्थ नहीं है। अतः अभिधा द्वारा इस अर्थ का बोध नहीं माना जा सकता है। प्रयोग में इसी अस्वीकृता को बचाने के लिए 'रुचि कुरु' प्रयोग को बचाया जाता है, क्योंकि व्यञ्जना द्वारा इसका पान हो जाता है।

दोष की नित्यता अनित्यता के आधार पर भेद—आलङ्कारिकों ने वाच्य में दो प्रकार के दोषों का वर्णन किया है। (१) नित्य दोष—जो किसी भी प्रकार की रस ध्वनि आदि में वाच्य नहीं है। रस, भाव, रस भास, भाव सक्ति, भाव शबलता, भाव शान्ति आदि सभी में इन नित्य दोषों को स्वाभाव्य माना गया है, व्याकरण नियमों के प्रतिफल प्रयोग को नित्य दोष—अनाधुत्व—दोष व अतगत मानते हैं और 'कष्टरव' श्रुति कष्टरव' जो कर्ण शृंगार आदि रसों में बाधन होता है, रोद्र रस में बाधन हो जाता है। अतः इसकी नित्यता में रसों के आधार पर अंतर आता जाता है।

इन नित्य-अनित्य दोषों का विभाजन सभी उचित कहा जा सकता है, जब वाच्य व्यञ्जक भाव-व्यञ्जना व्यापार को मान लिया जाय। यदि श्रुति-कष्टरव आदि अनित्य दोषों के विभाजन में किसी विषय वाच्य का अभिधा गम्य अर्थ ही माने और व्यञ्जना व्यापार गम्य न माने तो ऐसी दशा में किसी शब्द का अभिधा-बोध्य अर्थ तो सदैव एक ही रहता है और उसके गुणादि में कोई अंतर नही आना चाहिए परन्तु व्यवहार में वही श्रुतिकष्टरव दोष जो रोद्र रस का बाधक है, कर्ण में बाधन बन जाता है। अभिधेय अर्थ तो सदा एक रहता है और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है, परन्तु यहाँ वा परिवर्तन हो जाता है, यह अभिधा-व्यापार गम्य बनादि नहीं हो सकता है। उसके लिए व्यञ्जना का मानना अनिवार्य हो जाता है। अभिधा बोध्य अर्थ सदा एक रहता है परन्तु व्यञ्जना बाधन अर्थ में नाश हो जाता है। यह बात उक्त कथा में कष्टरव में बतानी ही होती है। अतः व्यापार के विभिन्न रूप हान के कारण ही एक ही श्रुतिकष्टरव जो शृंगार में परिवर्तित है वही रोद्र में वाच्य भी विद्यमान हो जाता है। इस प्रकार व्यापार की अनुपस्थिति और प्रतिफलता के आधार पर ही दोनों का अर्थ विभाजन किया गया है। इस दृष्टि में भी व्यञ्जना की अर्थ्यता माननी जानी है।

(२) वाच्य और अर्थ के अर्थों के अर्थ का अर्थ—आलङ्कारिकों

के मत में किसी विशिष्ट पद का किसी विशेष प्रमाण में सौन्दर्य-वृद्धक अर्थ होता है, जो सामान्य प्रयोग में वसा नहीं माना जा सकता है, जैसे 'बुमार-सम्भव' के पञ्चम सग में "द्वयगत सम्प्रति शौचनीयता समागमप्रायतया कपालिन ।" में कपालिन पद सौन्दर्य-वृद्धक रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। अभिधेयाथ में तो कपाली और पिनाकी का एक ही शिव परक अर्थ है। दोनों पर्याय रूप में आते हैं। प्रसंग के अनुकूल इस स्थान पर कपाली सत्परधारी शिव का प्रयोग करके उनकी निन्दा ही अभिव्यञ्जित की गई है। यदि पिनाकी शब्द का प्रयोग किया जाता तो उसका शिव के वीर भावाविष्ट अर्थ की प्रशंसारम्भक अभिव्यञ्जना होती जो प्रस्तुत प्रसंग में कोई भी चमत्कार लाने में सक्षम न हो पाता। क्योंकि यहाँ पर शिव की निन्दा द्वारा पावती के मन में उनके प्रति विराग उत्पन्न करना ही कवि कालिदास का अभिप्रेत है। पिनाकी शब्द से पिनाक की धारणा करने वाले शिव के वीर रूप का ही चित्र समझ आता है। अतः कपाली शब्द में जो एक निन्दात्मक विशेष चमत्कार उत्पन्न हो गया है तथा जो अधिक उपयुक्त और कवि यानुगुण प्रयोग है, वह व्यञ्जना व्यापार को माने बिना केवल अभिधा से सम्भव नहीं हो सकता है।

(घ) वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ की प्रतीति में बोद्ध, स्वरूप, सत्या, काल आदि की चर्चा की जा चुकी है। इन आधाग पर भी वाच्य और व्यग्य अर्थों की अलग अलग सत्ता सिद्ध हो जाती है। स्वरूप भेद में वाच्य और व्यग्य अर्थ की भिन्नता तीना रूपा में दीख पत्ती है—

- (१) विधि-निषेध और अनुमय रूप में<sup>१</sup>
- (२) निन्दा और स्तुति रूप में<sup>२</sup>
- (३) सशय, शांत तथा शृङ्गारी रूप में<sup>३</sup>

(ङ) वाच्य और व्यग्य के कारणभूत वाचक और व्यञ्जन शब्द के भेद का आधार—व्यवहार में माना जाता है कि विभिन्न वास्तुओं में घम भेद के कारण ही उन दोनों को एक नही माना जा सकता है। एक वास्तु का जो कारण है वह दूसरे वास्तु का भी कारण नहीं हो सकता है यदि दोनों के घमों में विभिन्नता हो। वाच्य और व्यग्य अर्थ ही अलग अलग नहीं होते हैं अपितु

१ ध्ययालोक प्रथम उच्चात पृष्ठ २०-२२-२३-२५

२ का० प्र० पृष्ठ २४३ उदाहरण सख्या १३४

३ का० प्र० पृष्ठ २४३ उदाहरण सख्या १३३



इन अर्थों के घोटन वाचन और व्यञ्जन का जो म भी अंतर रहता है। वाचन का सद्व ही अर्थ व्यञ्जन हाता है, परन्तु निरर्थक अवाचन का भी व्यञ्जना हो सकती है अर्थात् वाचन का अर्थ की अपेक्षा रहती है और व्यञ्ज को नहीं भी रहती है। वाचन गतियों द्वारा अभिधा का व्यापार साक्षात् सन्नेतित अर्थ को लेकर काय करता है परन्तु व्यञ्जना का व्यापार शब्द के साक्षात् सन्नेतित अर्थ का ग्रासन तथा गानना। इस प्रकार काय क्षेत्र में अर्थ के साक्षात् और असाक्षात् सन्नेतित अर्थ का भी प्रभाव वाच्य और व्यग्य पर बना रहता है। इस प्रकार वाचन और व्यञ्जन गतियों भी अलग अलग मानने पड़ेंगे। ऐसी दृष्टि में वाच्य और व्यग्य अर्थ भी भिन्न भिन्न ही होंगे। और उन अर्थों की बोधिका अभिधा और व्यञ्जना गति का भी भिन्न मानना पड़ेगा। इस बात का समर्थन धरतिहार १ भी दिया।

अथ चाप स्वप्न भ० — परं गुणवर्तिगुण्यक्षरा अपरिच्छिन्न वाचक स्वमयोच्यते, व्यञ्जकरक तु वाचकस्यैव तत् विभिन्नमत्र”

की मलीनता का वपन है। यहाँ मूल-शक्ति की मलीनता शब्दत कथित है जा अधिक चमत्कार जनक है और यही तात्पर्य का विषयभूत अर्थ है, परन्तु इसी से दूसरे अव्यक्त अतात्पर्यभूत अर्थ की—अर्थात् फिर यह ग्राम तरुण मुझे प्राप्त न हो सकेगा—व्यञ्जना हो रही है। यह दूसरा अर्थ पहले के समान चमत्कार युक्त न होने पर भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व तो रखता ही है। इस दूसरे अर्थ की 'यजना अभिधा द्वारा सम्भव नहीं है। क्योंकि इस अर्थ का चोत्कर्ष कोई भी शब्द यहाँ प्रयुक्त नहीं हुआ है। साक्षात् संकेत न होने के कारण यह अभिधा का व्यापार नहीं हो सकता और दूसरे अर्थ की व्यञ्जना स्पष्टत हो रही है। अतः इसे हम व्यञ्जना का ही व्यापार मानेंगे। इस प्रकार 'यजना को अलग सत्ता स्थिर हो जाती है, और यह सिद्ध हो जाता है कि अभिधा शक्ति से प्रतीयमान अर्थ का बोध नहीं हो सकता है। अतः प्रतीयमान अर्थ एक भिन्न वृत्ति व्यञ्जना से ही स्पष्ट होता है।

व्यग्याय के अभिधा गम्यता का निराकरण — इस व्यञ्जना का मानने वाले अभिधावादियों का जो वाग्य सर्वप्रथम समक्ष आता है। वह मीमांसका का है। यदि अभिधाशक्ति से ही प्रतीयमान अर्थ का बोध मानें तो इसका दारुण रूप हो सकते हैं —

(१) वाच्याय के साथ ही व्यग्याय का भाव बोध अभिधा से ही माना जाय।

(२) पहले वाच्याय शब्द बाद में व्यग्याय का बोध क्रमशः माना जाय।

खण्डन — प्रथम विकल्प का खण्डन सरल है। इसमें वाच्याय और व्यग्याय का बोध एक साथ माना गया है। ऊपर जो विधि निषेधयुक्त 'भ्रम धार्मिक' आदि श्लोकों का उदाहरण दिया गया है उनमें दोनों प्रकार के विधि निषेधयुक्त दो विरोधी भावों वाले अर्थ का ज्ञान एक ही अभिधा शक्ति से न हो सकता है। इनमें एक तो वाच्य अर्थ है और दूसरा प्रतीयमान है। अतः एक साथ दोनों का बोध सम्भव नहीं है।

दूसरे विकल्प के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि 'विनेप्य नाभिधा गम्येत् क्षणिकशक्ति विनेपणे' अर्थात् विनेपण का बोध कराने में क्षणिक शक्ति अभिधा शक्ति विनेप्य तक नहीं पहुँच सकती है। इस प्रकार अभिधा शक्ति एक ही बार अपना व्यापार कर सकता है, और उस प्रथम व्यापार में वाच्य

अर्थ को बताने में अभिधा शक्ति धीन हो चुकी है। अतः इससे प्रतीयमान अर्थ का बोध नहीं हो सकता है तथा वाच्य और प्रतीयमान का क्रम ठीक नहीं माना जा सकता है।

(२) अभिधा से संबंधित अर्थ का ही बोध होता है और प्रतीयमान अर्थ संबंधित अर्थ नहीं है। अतः अभिधा द्वारा इसका बोध नहीं माना जा सकता है।

स्फोट — इस प्रकार प्रतीयमान अर्थ एवं व्यञ्जना शक्ति की स्थापना स्थापित हो जाने पर अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि व्यञ्जना विरामाभिधायादियों का जो मत है, वह बड़ा तक समीचीन कहा जा सकता है। ध्वनियादियों का सिद्धांत वयाकरणों के स्फोटवाद से प्रभावित हुआ है। उनके अनुसार ध्वन्यात्मक शब्द "स्फट" नहीं होते हैं और यही ध्वन्यात्मक शब्द अस्फट रूप में पद, वाक्य महावाक्यादि की प्रतीति कराते हैं। इनके द्वारा जिस अस्फट तत्त्व की व्यञ्जना होती है उसे स्फोट कहते हैं। ध्वनियादियों का प्रतीयमान अर्थ भी पद, वाक्य, अर्थादि द्वारा पञ्जित होता है। भीमासको के अनुसार प्रत्यक्ष ध्वनि व श्रवण से उभय ध्वनि का 'संस्कार' बन जाता है और यही संस्कार अंतिम ध्वनि व साय मिलकर शब्द का ग्रहण और अर्थ की प्रतीति कराता है। इस प्रकार पूर्व पूर्व वण श्रवण जनित संस्कार सहकृत अंतिम वण के सम्पर्क से ही "ज्ञान और मय बोध होता है। वयाकरणों व इस स्फोट सिद्धांत एवं व्यञ्जना का वर्णन भीमासको ने किया है फिर भी मत हरि व वान्य पदीय में स्फोट सिद्धांत का तथा आन इवधन, अभिनवगुप्त और मम्मट के ग्रंथा में व्यञ्जना और ध्वनि का पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया गया है।

कुमारिल भट्ट का मत — स्फोट सिद्धांत का वर्णन करते हुए कुमारिल भट्ट ने कहा है कि "दीपक के प्रकाश से घर व प्रकाशित हान के ही समान वण या ध्वनिया, पद या वाक्य के स्फोट की व्यञ्जना नहीं करते हैं। इस प्रकार उनमें व्यञ्जकत्वं नहीं होता।" आगे चल कर तात्पर्य शक्ति में व्यञ्जना का समावग करन का बीज भी अलंकारिकों को

१ धर्मा वा ध्वनयो वारि स्फोट न पदमात्मयो ।

व्यञ्जन्ति व्यञ्जकत्वेन यथा दीपप्रमादय ॥

दशरथादि, पृ. १११,

मद्राष्ट संस्करण

मारिल से ही प्राप्त हुआ है, इस मीमांसको को अभिषावादी भी कहा जाता है और ध्वनि सिद्धांत के प्रबलतम विरोधी ये ही रहें हैं। अतः इनके मतों का सण्डन करने के उपरान्त ही ध्वनि सिद्धांत एवं व्यञ्जना की पूर्ण रूप से स्थापना मानी जायगी।

मीमांसक मत — अभिषावादियों का सण्डन मुख्य रूप से ध्वन्यालोक की सूचन टीका, काव्य प्रकाश और साहित्य दण में किया गया है। इन मीमांसकों को निम्नलिखित रूपों में बताया जा सकता है —

- १ कुमारिल भट्ट का अभिहितान्वयवाद।
- २ प्रभाकर भट्ट का अचिन्ताभिधानवाद।
- ३ निमित्तवादियों का मत।
- ४ भट्टलोल्लट का दीघ लीघतर अभिधा व्यापारवाद।
- ५ घनञ्जय और घनिक का तात्पर्यवाद।
- ६ मुकुल भट्ट का अभिधा वार्त्त मातका'।

(क) अभिहितान्वयवादो और व्यञ्जना—कुमारिल भट्ट के मत को मानने वाल पाथसारथि मिथ्र आदि अभिहितान्वयवादियों का भाव मीमांसक कहते हैं। इन लोगों के अनुसार वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद से पहले वाच्य अर्थ का ज्ञान होता है। जब सभी पदों का अलग अलग वाच्य माना हो जाता है तो वक्ता के तात्पर्य के अनुसार आवागा, योग्यता और सन्निधि के द्वारा उन पदों का परस्पर अन्वय होता है। अन्वय का ज्ञान पर ही सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ बाध हो पाता है। इस प्रकार किसी वाक्य का अर्थ वास्तव में उसका वाच्य अर्थ न होकर तात्पर्य ही होता है और जिगत्त शब्द शक्ति से यह अर्थ बोध होता है, उसे मीमांसक तात्पर्य गति कहते हैं। इस प्रकार वाच्य के अर्थ बाध की तीन श्रेणियाँ हैं।

(१) पदों से अभिधा गति द्वारा पदार्थों की उपस्थिति और उनका अलग अलग वाच्य मानना।

(२) आवागा, योग्यता और सन्निधि से उन पदार्थों का परस्पर अन्वय।

(३) वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उनका अर्थ-बोध।

इससे पदार्थों के भाव से सत्य से ही वाच्य अर्थ हो पाता है। इस मत के अनुसार पदार्थ सत्य रूप अर्थ-बोध ही उसका मुख्य उद्देश्य होता है, अर्थात् पदों से उपस्थित पदार्थों के वाच्य अर्थ का सत्यता द्वारा अर्थ-बोध

करा देना ही इसका काम है । इस प्रकार सामान्य अर्थ का ही चोत्तन हो पाता है ।

संक्षेप — आचार्य मम्मट ने बताया है कि इस तात्पर्याशक्ति का काम केवल पदार्थों का अर्थ बोध करा देना ही है 'अभिहितार्थ' शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ भी इतना ही है कि 'अभिहित' का कही हुई बात का अर्थ करा देना और इस प्रकार अर्थ का जो ज्ञान होता है, वह सामान्य रूप वाला ही माना जाता है । ध्वनिवादियों का प्रतीयमान अर्थ तो इसके भी बाद में प्रतीत होने वाला अर्थ है, जो साक्षात् सक्त का विषय नहीं होता । ऐसी दशा में अभिहितार्थवादियों के मत से 'अवित अर्थ' ही वाच्य अर्थ है और वाक्यार्थ तो उसका अवित विशेष अर्थ है, जो वाच्य अर्थ से भिन्न है अतः अतिविशेष रूप जो प्रतीयमान अर्थ है, उसे तो वाच्य की कोटि में रखा नहीं जा सकता है, क्योंकि जब वाक्यार्थ ही अवाच्य है तो प्रतीयमान अर्थ भला किस प्रकार वाच्य माना जा सकता है ।

(ii) इस मत में वाक्यार्थ ही अभिधा गम्य नहीं है तो व्यंग्यार्थ की प्रतीति तो अभिधा से हो ही नहीं सकती है । इनके अनुसार अभिधा से केवल पदार्थों की उपस्थिति हो जाती है । पदार्थ के ससंग रूप वाक्यार्थ का ज्ञान तात्पर्याशक्ति से होता है । अतः गम्य अर्थ तो इस मत से अभिधा द्वारा गम्य हो ही नहीं सकता है ।

(iii) जब वाक्यार्थ बोध के लिये ही अभिधा से अतिरिक्त तात्पर्याशक्ति को माना जाता है, तो इस वाक्यार्थ बोध के भी वास्तव प्रतीत होने वाले प्रतीयमान अर्थ का प्रतीति अभिधा से कैसे हो सकती है ? यह वाक्यार्थ वास्तव में पदा का अर्थ नहीं है ।<sup>१</sup> अभिधा से तो केवल पदा का अर्थ का ही ज्ञान होता है पुरे वास्तव का बोध उमकी शक्ति से परे है । अतः बाद में प्रतीत होने वाले व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा में नहीं हो सकती है । इसी का समर्थन मम्मट ने किया है कि 'अर्थशक्ति मूलोऽपि विशेषे मङ्गलैः क्लृप्तं न युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाज्ञाः सन्निधिषोऽप्यन्तःशब्दपरस्परसम्पर्गो यत्र पदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्रभिहितार्थवादे कावर्ता व्यंग्यस्यभिधेयतायाम् ।'<sup>२</sup>

१ तात्पर्यार्थो विशेषोऽप्युपपदार्थोऽपि वाक्यार्थ समुत्पत्तिसतीति का०

(स) अविताभिधानवाद और व्यञ्जना—कुमारिल मट्ट के सिष्य प्रभाकर का मत 'गुरुमत' कहा जाता है। इन्होंने अभिहिता वयवाद के विरोध में अविताभिधानवाद का प्रचार किया, और इनका टीकाकार गालिकनाथ मिश्र ने 'नृजुविमला टीका' में इनके मत का समर्थन किया है। अभिहिता वयवाद के अनुभार पहले पदों से अनवित पदार्थों की उपस्थिति होती है, और तात्पर्यवृत्ति के अनुसार इनका अर्थ होकर वाच्यार्थ प्राप्त होता है। इससे विपरीत प्रभाकर के अविताभिधानवाद के अनुसार अविता पदार्थों का ही अभिधा से बोध होता है। वाक्य के अर्थ और वाच्यार्थ प्राप्त करने के लिये तात्पर्य शक्ति जसी किसी अर्थवृत्ति की आवश्यकता नहीं होती है। अर्थात् कुमारिल के अनुसार अनवित पदार्थों की उपस्थिति और प्रभाकर के अनुसार अविता पदार्थों की ही उपस्थिति होती है। इस प्रकार वाक्य में अविता पदों के ही अर्थ की प्रतीति अभिधा शक्ति से होती है। अर्थात् वाच्यार्थ का ज्ञान या संकेत ग्रहण वाक्य के ही रूप में होता है। पदों या शब्दों के रूप में नहीं, जसा कि अभिहिता वयवादी मानते हैं। इसी से प्रभाकर ने अपने ग्रंथ में इसका समर्थन किया है।<sup>१</sup>

वाक्य ही अर्थ प्रत्यायक है—अनेक अभिधानवादियों के अनुसार वाक्य से ही अर्थ का बोध होता है, कोई शब्द स्वयं अर्थ बाध न कराने में समर्थ नहीं होता। शब्द किसी वाक्य में प्रयुक्त होकर ही अर्थ का प्रत्यायक होता है और पदों से अर्थ प्रतीति का कारण मन्तग्रह या शक्तिग्रह है। शक्तिग्रह के आठ साधना<sup>२</sup> में 'व्यवहार' का ही इन लोगों में प्रमुख माना है। इस व्यवहार की प्रक्रिया अच्छी प्रकार समझ लेनी चाहिये।

व्यवहार में देखा जाता है कि उभयवृद्ध (पितादि) मध्यमवृद्ध (बालक से बड़े भाई आदि) गाय आदि किसी पदार्थ का लान के लिये एक वाक्य का प्रयोग करता है। पास में स्थित बालक 'गायानय' आदि पदों को सुनता है और मध्यमवृद्ध (बड़े भाई या गौकर द्वारा) का सास्नालागल—कतुद विशिष्ट एक पिण्ड विनोप को लाता हुआ नेत्रों से प्रत्यक्ष रूप में देखता है। उभयवृद्ध के वाक्य और मध्यमवृद्ध के 'गो आनयन' रूप क्रिया से अनुमान करता है कि उभयवृद्ध ने कहे गये वाक्य का यही अर्थ होता है। इस प्रकार सास्नादिमान

१ वाक्यार्थेन व्यवहार—वृत्ती ५० १६६

२ शक्तिग्रह व्याकरणोपमान को प्राप्तवाक्याद् व्यवहारश्च वाक्यस्य शेषाद् निवृत्तेर्वृत्तिः सानिध्यत सिद्धपदस्य वृद्धा ॥

पिण्ड का आनयन रूप स्थूल अथ ग्रहण करता है। इसके उपरान्त कहे हुए वाक्य और उसके अर्थ में अपिण्ड रूप से वाच्य वाचक सम्बन्ध अर्थापत्ति प्रमाण से मानता है। इस प्रकार अचित्त पदार्थ का वाक्यार्थ रूप में गान प्राप्त करने के लिए उसे तीन प्रमाणा की आवश्यकता होती है। प्रभाकर ने कहा है कि 'बालक, वृद्ध व्यक्ति उसका द्वारा कहे हुए वाक्य और वही हुई वस्तु को प्रत्यक्ष रूप में देखता और सुनता है। श्रोता की क्रियाओं से वाक्य का अर्थ अनुमान द्वारा लगा लेता है तथा वाक्य एवं अर्थ में वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध है, ऐसा अर्थापत्तिप्रमाण से जानता है। इस प्रकार तीन प्रमाणों—प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति से वह व्यवहार द्वारा सकेत ग्रहण करता है।'<sup>१</sup>

पुन दूसरे वाक्य में गान के स्थान पर अर्थ आनय का प्रयोग अथवा 'आनय' के स्थान पर 'जघान' का प्रयोग होता है। या 'गानय' जैसे वाक्य का प्रयोग होता है। इस प्रकार उन उन पदार्थों का ले आना और ले जाना प्रत्यक्ष रूप से देखता है और अत्रापि वृद्धि से शब्द के विभिन्न प्रयोगों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। अतः निगमना जाता है कि अर्थ का ज्ञान कराने वाला वाक्य ही होता है। इस प्रकार व्यवहार द्वारा अर्थ गान अचित्त पदार्थ का ही होता है, केवल पदार्थ का ही नहीं। मम्मट ने इसका स्पष्टीकरण का यह प्रकाशक पाचव उल्लास में किया है।

खण्डन — प्रभाकर का मत में अभी बताया गया है कि पदार्थाचित्त में शक्ति-ग्रहण होता है और उन सामान्य अचित्त पदार्थ का पदवस्तु विनियम अचित्त में होता है।

अतः यह निगमना निकला कि विनियम में पदवस्तु हान वाल सामान्य विशेष रूप पदार्थ ही मन्त का विषय है और अभिधा शक्ति द्वारा ही इसका बोध होता है इसमें कोई शक्यता है —

(१) बालक को वाक्य का अर्थ ज्ञान होता है तो वाक्यान्तर में प्रयुक्त उसी शब्द का गान कम हो पाता है? जब 'गामानय' में गाम पद और गानय में 'गाम पद' दोनों एक ही परन्तु दो वाक्यों में दो भिन्न शब्दों द्वारा आनय और नयका उस अर्थ गान करने होता है? दूसरे वाक्य में— गानय और

१ गणवृद्धाभिधेयाश्च प्रत्यग्गोत्रात् पश्यति। श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वं मनुमानेन चेष्टया। अर्थानुपपत्त्या तु बोधच्छक्ति इयात्मकाम्। अर्थापत्त्यावबोधेत सम्प्रयत्तिप्रमाणकम् ॥

अश्व नय- में गाय को ले जाने की प्रिया से अश्व को ले जाने की प्रिया का बोध कैसे हो पाता है ? इस शका के समाधान के लिए प्रभाकर ने सामान्य और विशेष इन दो तत्वों की कल्पना की है। दूसरे वाक्य में प्रयुक्त इही शब्दों को 'प्रत्यभिज्ञा' से हम पहचान लेते हैं। ऐसा होने पर पदार्थों के मात्र से अचित्त होकर ही सकेत का ग्रहण होता है। फिर भी सामान्य से आच्छादित विशेषरूप में ही पदार्थ प्रतीत होते हैं।<sup>१</sup> अर्थात् 'नय' आदि प्रियाओं का किसी विशेष वाक्य में प्रयोग होने पर वह पद 'तत्तत्' विशिष्ट हो जाता है, परंतु बालक को उसका ज्ञान सामान्य रूप में ही होता है। इस प्रकार प्रत्येक पद का ज्ञान सामान्य रूप में होता हुआ भी विशेष प्रसंग में विशिष्ट रूप में ही होता है। इन सामान्य विशेष रूपों की चर्चा करते हुए भी प्रभाकर ने सामान्य रूप में अर्थ का ही समर्थन किया है। अतः यही इनके मत से वाच्य है और सकेत ग्रह सामान्य रूप अर्थ में ही होता है।

ध्वनिवादियों का मत (१) अब ध्वनिवादियों का यह कहना है कि प्रभाकर के मत से जब सामान्य रूप अर्थ का ही ग्रहण अभिधा से होता है और विशेषरूप अर्थ उसकी सीमा में परे है तो अतिविशेषभूत जो व्यङ्गाय है उसकी प्रतीति तो अभिधा से ही नहीं सकती है।<sup>१</sup>

(२) अतः दोनों ही मत (अभिहित्वाच्यवाद और अचित्ताभिधानवाद) में वाक्याय अवाच्य ही रहता है अर्थात् अभिहित्वाच्यवाद में अचित्त अर्थ और अचित्ताभिधानवाद में पदार्थाचित्त अर्थ वाच्य अर्थ है वाक्याय तो अचित्त विशेष अर्थ होता है जो अवाच्य है और अभिधा से व्यक्त नहीं होता। ऐसी दशा में अतिविशेषभूत जो प्रतीयमान अर्थ है वह तो कभी भी अभिधा द्वारा बोध्य नहीं हो सकता है।<sup>२</sup> अर्थात् अचित्ताभिधानवादियों के इस सामान्य विशेष रूप को न मान कर यदि किसी एक ही अर्थ विशेष के

१ 'देवदत्त गामानय इत्यादि वाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तत्तत्प्रसंगपर्यन्तं तद्व्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिवारिवाक्यमेव प्रयोग योग्यमिति' का० प्र० प० ३०

२ का० प्र० प० ३०

१ तेषामपि मते सामान्यविशेषरूप पदार्थ सकेतविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थात्गतो न केतितत्त्वादवाच्य एव यत्र पदार्थप्रतिपद्यते तत्र दूरे अर्थात्तरभूतस्य विशेषप्रयुक्त्याद विशादेः चर्चा। का० प्र० प० ३०

२ का० प्र० पृष्ठ २२८



साथ सम्बद्ध रूप से शब्द का सकेत मान लिया जाय, तो अर्थ विशेष अर्थों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। और ऐसी दशा में अर्थ विशेष अर्थों के साथ सकेतग्रहण के लिए अलग अलग सकेतग्रहणों की कल्पना करनी पड़ेगी। जिसमें 'आन्तर्य' और 'अभिचार' दोष उत्पन्न हो जायगा। अतः यह निष्कर्ष निकलता कि अद्वैताभिधानवाद में विशेष अर्थ के साथ अद्वैतरूप में सकेतग्रहण मानना सम्भव नहीं है। ता विशेषरूप इस वाक्यांश से भी आगे व्यंग्याय का अभिधा से बोध कवल कल्पना मात्र कहा जायगा।

(३) व्यञ्जना विरोधी निमित्तवादी भीमासकों का तीसरा मत —

पूर्व पक्षी का मत— भीमासकों का यह दृष्टि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिए कारण काय भाव की स्थापना करता है। इनके अनुसार प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई निमित्त कारण होता है। इस दृष्टि से प्रतीयमान अर्थ का भी निमित्त अवश्य होगा। इस अर्थ की प्रतीति में शब्द को ही इसका कारण मानना चाहिए। अतः शब्द और उसके अर्थ में निमित्त निमित्तक सम्बन्ध होगा, और इसमें अभिधा वृत्ति ही काम करती है। इसलिए व्यञ्जना व्यापार का मानना अर्थ है।

(ii) व्यञ्जनावादी भी शब्द से ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति मानता है जो अभिधाश्रित होकर ही बोध का कारण बनता है। उसका शब्द के अतिरिक्त अर्थ कोई निमित्त नहीं है। इस निमित्त के दो रूप— 'कारक रूप' और 'नापक रूप' माने जाते हैं। शब्द कारक रूप नहीं है। अतः व्यंग्याय के प्रति शब्द का नापक या बोधक रूप ही माय होना चाहिए और यह रूप बोध्य बोधक भाव रूप बिना सकेतग्रहण सम्भव नहीं है तथा सकेतग्रहण शब्द की अभिधाशक्ति से ही हो सकता है। अतः जब अभिधा से ही सकेतग्रहण शब्द और अर्थ में बोध्यबोधक भाव और शब्द का अर्थ के प्रति ज्ञापक रूप तथा अभिधा द्वारा ही व्यंग्याय की प्रतीति सम्भव है ता व्यञ्जना शक्ति मानना एक व्यर्थ का प्रयास है।

इस मत में यह बताया गया है कि शब्द रूप निमित्त के द्वारा ही व्यंग्याय रूप निमित्तक की प्रतीति होती है, और जब शब्द और व्यंग्याय में निमित्त निमित्तक भाव स्थिर होता है। अतः निमित्तक व्यञ्जना की आवश्यकता ही क्या है ?

— (१) शब्द के जो  
होने

बताये गये हैं,  
बन सकता है,  
गया है।

सकेतग्रह अर्थात् मात्र से होता है। इस प्रकार शब्द से नापकत्व रूप निमित्त ही बनता है और यह सकेतग्रह में होता है। सामान्यों के अनुसार सामान्य रूप से अर्थात् मात्र के सकेतग्रह होता है, विशेष में सकेतग्रह नहीं होता है। अतः निमित्तरूप शब्द का जब तक सामान्य से परे विशेष के साथ निमित्तरूप स्थिर नहीं होता है अथवा अतिविशेष भूत नमित्तिक व्यंग्याय के प्रति सम्बन्ध या सकेतग्रह नहीं होता, तब तक अभिधा के द्वारा नमित्तिक व्यंग्याय की प्रतीति सम्भव नहीं हो सकती है। अर्थात् जब तक शब्द रूप निमित्त का विशेष के साथ सकेतग्रहण माना जाय, तब तक उससे विशेष अथ (नमित्तिक) की प्रतीति कैसे हो सकती है? अतः नमित्तिक वाच्य के अनुसार निमित्त की कल्पना होती है।<sup>१</sup> ऐसा कहना अविचारपूर्ण है।<sup>१</sup>

(ii) शब्द का नापक निमित्त अथ के प्रति दीपक द्वारा अन्वयार में पड़े घड़े के शापक के समान है। जैसे घड़े की स्थिति पहले में ही रहती है और दीपक केवल अपने प्रकाश द्वारा उसे व्यक्त कर देता है। इसी प्रकार प्रतीयमान अथ को शब्द बताता नहीं है, अपितु व्यक्त करता है। इस कारण में शब्द कारक निमित्त तो नहीं हो सकता है। शापक निमित्त के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि नापक किसी पूर्व सिद्ध वस्तु का ही होता है, व्यंग्याय पहले से सिद्ध भी नहीं होता क्योंकि व्यंग्याय का ज्ञान तो वाच्यार्थ ज्ञान के उपरांत सद्बुद्ध के हृदय में व्यक्त होता है। अतः शब्द को व्यंग्याय का निमित्त कारण नहीं माना जा सकता। इसलिये भाषासूत्रों का यह मत है कि नमित्तिक के अनुसार ही निमित्त की कल्पना होती है और व्यंग्याय रूप नमित्तिक के लिए शब्द रूप निमित्त अभिधा व्यापार से ही प्रतीयमान अथ को बोध कराता है—  
खण्डित हो जाता है तथा व्यञ्जना नामक शक्ति का स्थापना हो जाती है।

(प्र) भट्ट शील्लट का मत और व्यञ्जना—दीप दीघतर अभिधा व्यापार—इसके अनुसार जिस उद्देश्य से किसी शब्द को बोला जाता है, वही उसका अर्थ है अर्थात् किसी भी वाक्य में जितने प्रकार के अर्थों की प्रतीति

१ तत्रनिमित्तत्वं वाक्यत्वं नापकत्वं वा ?

शब्दस्य प्रकाशकत्वात् कारकत्वं नापकत्वे तु अनासक्तस्य कथं, नापकत्वं च सङ्कृतेनेव स चातिव्यक्तमात्रे एव च निमित्तस्य नियत निमित्तत्वं यावत् निश्चित तावन्निति अथ प्रतीतिरिव कथ्यामिति "नमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्पन्ते इत्यविचारितभिधानम्। का० प्र० प० उ०।

होती है, वह सब अभिधा का ही व्यापार है, वह सभी अथ कवि के तात्पर्य का विषयभूत अथ है इसके दो अंश हैं।

(१) जिस अभिप्राय से किसी शब्द का प्रयोग किया जाता है, वही उसका अर्थ होता है। अतः यञ्जना की आवश्यकता नहीं है। यही 'यत्पर शब्द' स शब्दाय ' का अर्थ है अर्थात् यदि केवल वाच्याय का पान कराना ही किसी उक्ति का उद्देश्य है तो वही उसका तात्पर्य है और यदि लक्ष्याय और व्यग्याय का बोध भी इष्ट है तो शब्द के प्रयोग का वाच्याय वही होगा। इस प्रकार अभिधा की परिधि में सभी प्रकार वाच्याय लक्ष्याय और व्यग्याय सभी आ जाते हैं।

(२) अभिधा शक्ति एक अर्थ को बता देने के उपरान्त क्षीण नहीं होती है, अपितु तीव्र वेग से चलाय गय बाण के समान कई कार्यों का सम्पादन करती है। जैसे बाण अपने वेग के कारण शत्रु का कवचभेद, हृदय विदारण और प्राण हरण क्रमशः कर लेता है उसकी प्रकार अभिधा भी अपने दीर्घ दीर्घतर व्यापार से शब्द के द्वारा पार्थोपस्थिति, अवयव बोध और व्यग्य प्रतीति तीनों कार्यों का सम्पादन करती है। अतः व्यग्य प्रतीति के लिये व्यञ्जना जैसी किसी अर्थ शक्ति के मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। अभिधा से ही वाच्य, लक्ष्य और व्यग्य कहे जाने वाले सभी अर्थों का पान हो जाता है।

(१) उत्तरपत्न्य (ध्वनिवादियों द्वारा इसका खण्डन)—आचार्य मम्मट ने भट्ट लोल्लट के इस मत का खण्डन करने हुए कहा है कि उन्हें यत्पर शब्द स शब्दाय ' का वास्तविक पान नहीं है क्योंकि भट्ट के अनुसार 'तार्तीय-वाचो युक्ति का यह अभिप्राय है कि वाच्याय में ही लक्ष्य और व्यग्य सभी अर्थों का समावेश हो जाता है, परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। आचार्य मम्मट ने बताया है कि वेद पर आधारित मोमासा सास्त्र जिन वृत्त विधिवाक्यों को अभिधेय रूप में मानता है, उमना तात्पर्य कवच इतना ही है कि बौद्धिक क्रम वाण्डों में प्रमाणात्तर से जितना अर्थ अप्राप्त होता है, उतने ही अर्थ का ज्ञान 'अदग्ध दहन-याय' में किया जाता है अर्थात् जैसे लकड़ी का जले अक्ष का ही दहन अभिधेय होता है। उसी प्रकार अप्राप्त अक्ष का विचार करना ही वृत्त विधि वाक्यों का मूल उद्देश्य होता है। इस प्रकार अप्राप्त अक्ष के बोधन में ही विधि वाक्यों का तात्पर्य होता है और यही यत्पर शब्द स शब्दाय का तात्पर्य है। उदाहरण के लिये वृत्त वाक्यों को ही लिया जा सकता है। यथा "अग्निहोम पुण्यात् स्वयं काम" में होम क्रिया का विधान है। 'दहना' उक्ति में होम का माया रूप द्रव्य का विधान है, और होम तो

पहले से ही प्राप्त है। सोमेन यजेत' में 'द्रव्य' और 'दाग' दोनों ही अप्राप्त होने से दोनों का ही विधान किया गया है। इसी प्रकार "लोहितोष्णीषा ऋत्विजा प्रचरति" जैसे वाक्य में केवल पगड़ी के रंग 'लोहितत्व' का ही विधान है। इस प्रकार जहाँ पर जितना अर्थ अप्राप्त होता है, उतने का ही विधान करना यत्पर शब्द से शब्दार्थ' का तात्पर्य है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं लगाया जा सकता है कि लक्ष्याथ और ध्यग्याथ सभी वाच्याथ में ही आते हैं। इस प्रकार य मीमांसा अपने शास्त्र का भी अर्थ सम्यक् नहीं जानते वास्तव में इसका यह अर्थ हुआ कि सिद्ध पद जो अक्रिया रूप और वाक्य का उद्देश्य माना गया है, वह 'भूत' अर्थात् क्रियारूप साध्य विधेय पद का साधक होता है यदि दोनों का एक साथ उच्चारण किया जाय अर्थात् सिद्धपद साध्य पद के अग रूप में कहा जाय, तो इस प्रकार क्रियाभाग रूप विधि अंगों की ही प्रधानता होती है क्योंकि उसी के द्वारा विधि निषेध का कथन होता है। यही भूत भव्याय उच्यते का अर्थ है। वृत्ति वाक्यों में सबदा क्रिया रूप विधेयान्त की प्रधानता होती है। इस मत का समर्थन मीमांसा सूत्र में भी किया गया है।<sup>१</sup> निश्चत्वार यास्व के मत से भी आख्यात पद में क्रिया की प्रधानता होती है।<sup>२</sup> आचार्य मम्मट ने भी इसका समर्थन किया है।<sup>३</sup> भूत भव्याय समुच्चारणे भूत भव्यापदिश्यते।'

इस प्रकार मांसायक मत से दो बातें प्रकट हुईं। (१) प्रथम-विधि वाक्यों में मुख्य रूप से क्रिया का ही विधान किया जाता है। (२) द्वितीय-अदग्ध दहन याय से प्रमाणात्तर से जितना अर्थ अप्राप्त है, उसी का बोध करा जा उतने का ही विधान करना यत्पर शब्द से शब्दार्थ का अर्थ होता है। यह मत स्थिर होने पर इसका खण्डन अ मानी से ही जाता है। इस मत के अनुसार यदि सभी अर्थ वाच्याथ हा जाय तो फिर लक्ष्याथ मानने की भी क्या आवश्यकता रह जाता है। और (२) इस मत के अनुसार वाक्य में जितने शब्दों का प्रयोग होता है, उही शब्दों के विधेय अर्थों में ही शेष शब्दों का तात्पर्य माना जाता है अर्थात् वृत्त शब्दों के अर्थों में ही तात्पर्य हो सकता है, अर्थात् शब्दों के अर्थों में ही। किन्तु व्यग्याथ का जो बोध होता है, उसने विधान के

१ आम्नायस्य क्रियायत्वादात्तव्यमन्तर्धानम् । मीमांसा १ १ २१

२ भावप्रधानमाख्यातम् । स उपधानानि नामानि । तद्यत्र उभे भाव प्रधाने भवत । निरुक्त

३ काव्य प्रकाश प० उ लास पृ० २३३ ।

लिए कोई भी शब्द वाक्य में उपात्त (व्यपित) नहीं होता है। अतः वाक्य में अव्यपित शब्द के अर्थ में शब्द का तात्पर्य कभी नहीं माना जा सकता है। अतः मीमांसकों का यह मत माय नहा कहा जा सकता है और यत्पर शब्द स दृष्टाथ वाला नियम इस अर्थ में उचित नहीं है। अतः 'यग्याथ' की प्रतीति के लिये व्यष्टागशक्ति का मानना आवश्यक है क्योंकि अभिधा द्वारा उसका बोध नहीं हो पाता है। इस प्रकार सिद्ध हो गया कि न तो यह मत युक्ति सगत ही है और न मीमांसक मिथ्यात के अनुकूल ही है। इसलिये वाक्य में व्यपित शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य हो सकता है, किन्तु अर्थ प्रकार से प्रतीत होने वाले अर्थ मात्र में यह तात्पर्य नहीं हो सकता है। यदि बिना वाचक शब्द के ही किसी प्रकार के अर्थ में तात्पर्य मान लिया जाय तो 'पहला जादमी दौड़ता है' में पहले का अर्थ दूसरा भी लगाया जा सकता है, जो वाय सगन नहीं है। इसलिये प्रतीतिमात्र में तात्पर्य नहीं मान सकते हैं। 'यग्याथ' में भी वाक्य में उसका कोई वाचक शब्द कथित न होने में वह तात्पर्य का विषय होकर वाच्याथ के अन्वय नहीं आ सकता है।

पूव पक्ष की दूसरी शका—यह है कि 'विष खानो, पर इसके घर भोजन न करना' इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि इसके घर भोजन नहीं करना चाहिये अर्थात् शत्रु के घर भोजन करना विष खाने से भी बुरा है—यही इसका वाक्याथ है पर तु विष खाने का वाक्य में कथन नहीं है।

इसका उत्तर मम्मट न देने हुए कहा है कि 'विष भक्षण' इस वाक्य का तात्पर्य 'मा चस्य गृहं भुक्तया', इस उपात्त शब्द के अर्थ में ही है। अव्यपित शब्द के अर्थ में नहीं है 'चकार' द्वारा दोनों वाक्यों की एक वाक्यता सिद्ध की गई है। इसलिये इसके प्रथम भाग 'विष भक्षण' का तात्पर्य शत्रु गृह में भोजन करना विष भक्षण से भी बुरा है अतः इसके घर में नहीं खाना चाहिये—इस वाक्याथ में निवृत्तता है। दोनों की एक वाक्यता के कारण उपात्त शब्द से ही यह अर्थ सिद्ध होता है अनुपात्त शब्द में नहीं।

पूवपक्ष—ध्यञ्जना विरोधी पुनः कहता है कि 'जहाँ दो तिष्ठत वाक्य होते हैं उनमें ध्यञ्जनागि भाव मानकर उनमें एक वाक्यता की स्थापना नहीं की जा सकती है। उपयुक्त वाक्यों में दा न्दियापत्त 'भक्षण' और 'भुक्तया' है। अतः दोनों स्वतंत्र वाक्य हुए और इनमें आया हुआ 'च' वार एक वाक्यता का सूचक नहीं है। इसलिये वाक्य में व्यपित शब्द के अर्थ में तात्पर्य नहीं माना जा सकता है।

समाधान—'विप भक्ष्य' वाक्य एक 'सुद्ध वाक्य' है, और कोई भी मित्र किसी को विप खाने की सलाह नहीं दे सकता है। अतः यदि इसे पूरा वाक्य मान लिया जाय, तो अर्थ अनुपपन्न रह जाता है। अर्थात् मित्र क द्वारा कहे हुए इस वाक्य की उचित सगति नहीं बँठ पाती है। इसलिये यह वाक्य अपने म पूरा अर्थ की अपात्ति के कारण—अनुपपत्ताय होने के कारण दूसरे वाक्य का चास्य गृहे भुग्या का अर्थ बन जाता है। इस प्रकार इन दोनों वाक्यों की एक वाक्यता सिद्ध हो जाने पर कथित उपात्त शब्द क अर्थ में ही तात्पर्य होता है इस कथन की सगति भी बँठ जाती है।

अतः सिद्ध हुआ कि वाक्य में अपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य का निष्पन्न होता है जिस अर्थ का वाक्य शब्द वाक्य में कोई होता ही नहीं है, ऐसी अनुपपत्त शब्द का तात्पर्य का निष्पन्न नहीं हो सकता है। व्यंग्याय प्रतीति में उक्त अर्थ का चोत्तर कोई शब्द नहीं होता है। अतः शब्द क प्रयोग होने पर उत्तर शब्द स शब्दाय का सिद्धांत इस व्यंग्याय में सफल नहीं हो पाता है। इसलिए अभिधा द्वारा इसकी प्रतीति भी मही मनी जा सकती है।

दूसरी शका और समाधान—मीमांसक के अनुसार यदि सभी शब्दों से अर्थ ग्रहण में अभिधा का ही व्यापार मानकर उसे वाच्याय कहा जाय तो हे ब्राह्मण तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ' वाक्य से ह्य तथा तुम्हारी अविवाहिता क या गर्भिणी हो गई वाक्य से शब्द की वाक्यता होती है उसे भी वाच्याय अर्थ ही मानना पड़ेगा परन्तु मीमांसक ऐसा नहीं मानते। ये वाक्य ह्य और शक की उत्पत्ति के कारण हैं। मुक्तिकादि स ही इसका ज्ञान होना है, माक्षात् शब्द से नहीं।

दूसरी बात यह है कि उपयुक्त वाक्यों में ह्य और शोक का वाचक कोई शब्द भी प्रयुक्त नहीं हुआ है। अतः अप्रयुक्त शब्द के अर्थ में तात्पर्य का निष्पन्न कत सम्भव हो सकता है ?

(iii) यदि दीघ दीघतर अभिधा व्यापार से ही सब शकार के अर्थों का ज्ञान हो जाता है तो ऐसी दशा में यदि व्यञ्जना मानना आवश्यक नहीं है, तो मीमांसक लक्षणा को भी क्यों मानते हैं ? और तात्पर्या गति भी मानने की क्या आवश्यकता रह जाती है। लक्षणा का कार्य भी तो अभिधा के इसी दीघ-दीघतर व्यापार से सम्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार लक्षणा को मानकर और व्यञ्जना को न मानने वाली बात युक्ति सगत नहीं प्रतीत होती है क्योंकि इच्छानुसार अर्थ को अभिधा गति के साथ व्यापार के अन्दर भेद देने वाला

नियम तो दानो के निये समान होना चाहिये । अतः मीमांसकों की इस उक्ति में साधकता नहीं है ।

(17) मीमांसा शास्त्र में श्रुति लिंग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्या इन छः प्रमाणों में पूर्व पूर्व की बलवत्ता मानी गई है ।<sup>१</sup> अत्र प्रश्न यह है कि यदि आपके बचन के अनुसार अभिधा व्यापार से ही सभी प्रकार के अर्थों की प्रतीति हा जाती है तो (क) न तो लक्षणा मानन की ही आवश्यकता है और (ख) न श्रुति आदि प्रमाणों की प्रबलता दुबलता का ही प्रश्न उठता है ।

(18) महिमभट्ट ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि वाणिक समान शब्द व्यापार को नहीं माना जा सकता है । शब्द का प्रवृत्ति सकेन साक्षेय होकर ही अपना काय करती है । अतः अभिधयाय में ही इसका व्यापार होगा आभिधेय अर्थ में नही । प्रतीयमान अर्थ अनभिधेय अर्थ है ।<sup>२</sup>

घनञ्जय, घनिक और व्यञ्जना—घनञ्जय न भी व्यञ्जना का निराकरण किया है । उ होने स्थायीभाव और रस के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए कहा है कि वाक्य में दो प्रकार की त्रियाएँ (१) वाच्या और (२) अश्रूयमाणा होती हैं । ये अश्रूयमाणा त्रिया भी प्रकरणादि वश अर्थ कारकों से सम्बद्ध होकर वाक्याय के रूप में प्रतीत होती है । इसी प्रकार विभावादिकों से सम्बद्ध होकर रत्यादि स्थायीभाव भी वाक्याय रूप में प्रतीत होते हैं । इनमें विभावादि पदाय स्थानीय माने जाते हैं अर्थात् पदार्थों के ससंग बोध के समान तात्पर्या शक्ति से ही उनका बोध होता है ।<sup>३</sup> इस प्रकार कारक परिपुष्ट त्रिया ही वाक्याय या काव्य का तात्पर्य है । अर्थात् जैसे प्रकरणादि के कारण अश्रूयमाण त्रिया भी कारकादि के द्वारा अविनाभाव से स्पष्ट हो जाता है उसी प्रकार काव्यों में भी प्रकरणादि के आधार पर ही वाक्य के द्वारा वाच्य रूप में अभिहित विभावादि के साथ स्थायीभाव का अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण रत्यादि स्थायीभाव चित्त में स्फुरित होने लगता है । विभावादि का वाक्य में साक्षात् शब्द से उपादान होता ही है । ये सस्कार परम्परा द्वारा विभावों के पूर्वानुभव

१ श्रुति लिंग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्याना समवाय पारदोबल्य अर्थ विप्रवचन । मीमांसा दशन ३, ३ १४ ।

२ व्यक्तित्विवेक प्रथम विमला १

३ वाच्या प्रकरणादिभ्यो वृद्धिस्था वा यथा त्रिया । वाक्याय कारकयुक्ता स्थायीभावस्तथतर ।

दत्तक ४/३७ घनञ्जय

के आधार पर रत्यादि स्थायीभाव को पुष्ट करते हैं। अतः वाक्य के वाच्य रूप में उपात्त विभावादि द्वारा प्रतीत अथवा प्रकरणादि के द्वारा बुद्धिस्य रूप में प्रतीत रत्यादि स्थायीभाव व्यञ्जनाशक्ति का विषय न होकर काय का वास्तविक वाक्याय ही है।<sup>१</sup>

(i) इस कारिका की व्याख्या करते हुए घनिक न कहा है कि तात्पर्य का क्षेत्र बड़ा वाचक है, वह कोई तराजू पर तोला हुआ ऐसा पन्नाच नहीं है कि इतना ही हो। वह तो यावत्कायप्रसारी है अथवा जहाँ जसो और जितनी आवश्यकता होती है उसी के अनुसार ही तात्पर्य का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है।<sup>२</sup>

(ii) प्रतीयमान अथ तात्पर्य से भिन्न नहीं है। अतः उसका बोध केवल व्यञ्जना से ही हो ऐसा नहीं कहा जा सकता है और उसका व्यञ्जक वाक्य ध्वनि भी है। तात्पर्य आवश्यकतानुसार घट बड़ भी जाता है। अतः व्यञ्जना का मानना ठीक नहीं है।

(iii) ध्वनिवादी ने यग्याय वध के लिये वक्षा विभाग किया है अर्थात् प्रथम वशा में वाक्य में प्रयुक्त पदों से अर्थ की प्रतीति हाती है, इस वाक्याय कहा गया है, द्वितीय वक्षा में तात्पर्याय वाक्य अथवा घटित होकर प्रकरण के अनुकूल अर्थ का बोध कराता है। इसे वाक्याय की सना दी जाती है। तृतीय वक्षा में लक्ष्याय और चतुर्थ वक्षा में व्यग्याय को रखा गया है। इस वक्षा विभाग द्वारा भी तात्पर्य की शक्ति कुण्ठित नहीं होती है और चतुर्थ वक्षा निविष्ट यग्याय तत्र तात्पर्य की पहुँच हाती है। अतः व्यग्य अर्थ को प्रतीति के लिये व्यञ्जना मानन की आवश्यकता नहीं है, वह तात्पर्य की सीमा के ही अंतर्गत आ जाता है।

(iv) घनिक ने आगे बताया है कि लौकिक या बहिक सभी प्रकार के वाक्यों में कायपरता हाती है। यदि ऐसा न हो तो वह उचित प्रलपित हो जाय। अतः उनका कोई न कोई तात्पर्य अवश्य होता है।<sup>३</sup> काव्य में प्रयुक्त शब्दों का तात्पर्य उनका निरतिशय रसास्वाद में ही है, जिसके लिये शब्द का

१ दशरूपक अवलोक टीका पृष्ठ २४६-२४७

२ तात्पर्य प्रतिरिक्तत्वात् व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनि ।

यावत् कायप्रसारित्वात् तात्पर्य न तुलाधूतम् ।

दशरूपक अवलोकटीका

३ तथाहि पौष्टयमपौष्ट्येय वधयः सर्व कायपरम् अतएव त्वे नुरादयः  
त्वाद्गु मनादि वाक्यवत् । दशरूपक-अवलोक टीका पृ० २४७



जो प्रयोग होता है, वही उसका अर्थ भी है। इस प्रकार प्रयुक्त शब्दों से जो रसानुभूति होती है, धनिक मत में वही उस वाक्य का तात्पर्य है और इसका बोध तात्पर्या शक्ति से ही होता है।

(v) वक्ता जब भी किसी लौकिक वाक्य का प्रयोग करता है तो वह कुछ कहना चाहता है अर्थात् सभी वाक्य विवक्षा के अधीन है।<sup>१</sup> वाक्य में भी रसादि अथ वक्ता के अभिप्रेत होने से उह तात्पर्य हो सकेगा। अतः सिद्ध हो गया कि काव्य तथा रस के साथ व्यंग्य व्यञ्जक सम्बन्ध नहीं है, यदि तु भाव्य भावक भाव या सम्बन्ध है। वाक्य भावक है और रसान्ति भावक है। रसान्ति सहृदय के हृदय में अपने आप स्वयं उद्भूत होता है और विगिष्ट विभागात् जो तत्तत् रसों के अङ्गुल होते हैं—उनके द्वारा वह उनसे भावना कराता है।<sup>२</sup>

धनिक मत का खण्डन—विश्वनाथ ने साहित्य रचना में धनिक के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि धनिक ने 'त्रिस्त तात्पर्य' की उदाहरण दी है उसका क्या अर्थ होता है? सामान्यतया इसके दो अर्थ हो सकते हैं (१) तात्पर्य अर्थात् उस शब्द का अर्थ होना (२) उस वाक्य का दायित्व करने में तात्पर्यशक्ति का समर्थ होना।

इन दोनों में यदि पदार्थ विस्तार को लें तो व्यञ्जना शक्ति भी तो उस अर्थ का दायित्व करती है। अतः अर्थ की बात नहीं होगी। और यदि तात्पर्यशक्ति की बात ली जाय तो भाग्यमीमांसकों के प्रथम उपाय मन्त्र, किया जा चुका है। अभिहितता परमात्मा में वाक्य तात्पर्यशक्ति का उपाय उपस्थित पदार्थों का ससग बोध कराना है। इस प्रकार त्रिस्तोत्र का विगिष्ट ससग बोध तत्र ही उमका सीमा है व्यंग्य तथा चतुर्थ शक्ति का विवक्षित अर्थ। तत्र उमकी पहुँच नहीं हो सकती है। अतः यह निगम निराला है कि धनिक की तात्पर्यशक्ति का वाक्यरसप्रसारी है अर्थात् आवश्यकता अनुसार हर शब्द पर

१ पौष्पेयस्य वाक्यस्य विवक्षा परतन्वना ।  
वक्त्रमि प्रततात्पर्यमत वाक्यस्य मुग्धने ।  
दण्डवत्प्रवृत्तवत् पृ० २५१

२ अतो न रसान्तिना वाक्येन सह व्यंग्यव्यञ्जकभाव । त्रिस्तोत्र  
भाव्य भावक सम्बन्ध ? काव्य रसान्ति भाव्य रसान्ति भावक । तत्र  
स्वना मन्त्रत एव भावकपु विगिष्टविभागात् मन्त्रात् न ता  
भाव्य । । रसान्ति प्रवृत्तवत् पृ० २५१-२

पहूँव सकती है—अभिहितावयवाण्यो की तात्पर्या से भिन्न ही है। अतः ऐसी दशा में इस तात्पर्याशक्ति और ध्वनिवादियों की व्यञ्जना गति में कवल नाम मात्र का भेद हुआ। इस प्रकार व्यञ्जनावादी और तात्पर्यवादी के शब्द का वृत्ति में कोई अन्तर नहीं आता। अतः अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या से अतिरिक्त चौथी वृत्ति का समर्थन हो गया। 'ततः प्रष्टव्यम् किमिति तत्परत्व नाम तदयत्वं वा तात्पर्यवत्यात्तद्वोधकत्व वा ? आद्ये न विदाः', 'यद्यपि तदर्थानामवायात्। द्वितीयं तु कथं तात्पर्याद्या वृत्ति —अभिहिता वयवादिभि रत्नकृता वा तद या वा ? आद्ये दत्तमेवोत्तरम्। द्वितीये तु नाम मात्र विवाद तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिमिदं।' इस चौथी वृत्ति को चाहे तात्पर्यागति कहें या व्यञ्जना, इनके मूल रूप और काय में कोई अन्तर नहीं आता।

अभिधावादियों में मुकुल भट्ट का भी नाम लिया जाता है। इन्होंने अपने ग्रंथ 'अभिधावृत्ति मातङ्ग' में लक्षणा के छह भेद और अभिधा वृत्ति के चार भेद करने के उपरान्त उन सब का समावेश अभिधा में ही कर दिया है। जोर अभिधा वृत्ति में ही सभी का स्वीकार किया है।<sup>१</sup> लक्षणा का प्रतीति भी वचना, वाक्य और वाच्य सामर्थ्य के मान व आधार पर ही होती है। सब तो यह है कि सभा भीमासक वेद पर निर्भर रहते हैं और वृत्ति को प्रभु सम्मत कहा जाता है अर्थात् राजाना व समान उसका आज्ञा कोई अथ न ग्रहण करके सीधा अर्थ ही लिया जाता है। इसी में वहाँ जो कुछ है सब अभिधाय ही है। लक्षणा का का अन्तर घट्टन कम है तथा उनका अनुसार व्यञ्जना तो है ही नहीं। इस मत का निराकरण भी उद्युक्त उचितो द्वारा ही किया जा सकता है। इस प्रकार यहाँ तक सभी भीमासक (कुमारिल, प्रभाकर, भट्ट शारङ्ग, मुकुलभट्टादि) तथा घनञ्जय और धनिक के मतों का निराकरण करते हुए व्यञ्जना गति का की स्थापना की गई। अतः अगली पत्रिका में व्यञ्जना विराधी अन्य मतों का विवेचन किया जायगा।

वदन्तियों का मत—इन मतों में विशेषतः अक्षन्तायतावादी वदन्ती और वयाकरण मतों का चर्चा का जाता है। वदन्तियों के अनुसार वृत्ति मिथ्या है इसी से घन धर्मभाव किया कारण भव वाच्य, राक्ष्य व्यन्वादि सब कुछ मिथ्या है। यह अव्यक्त बुद्धि से ही सम्भव है। वे गणितों में 'सत्य

१ साहित्य दशक परिच्छेद ५ पृ० २६६-७० हरिदासी सस्वरण

२ इत्ये निराकरण गणित व अर्थवित्तम्। अभिधावृत्तिमानका १

ज्ञानमनसं तं ब्रह्म, 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि वाक्यो वा असृष्ट बुद्धि से ही ग्रहणीय 'पर ब्रह्म' उसका अर्थ होता है। इस प्रकार असृष्ट बुद्धि से ब्रह्म वाक्याथ ही वाच्य होता है और असृष्ट वाक्य ही उसका वाचक होता है। अतः असृष्ट वाक्याथ बोध मानने से वाच्य लक्ष्य और व्यर्थ की अलग अलग प्रतीति नहीं होती है। इससे अनुसार पदाथ सत्य होने से नहीं, अपितु स्वरूप मात्र का बोधक होने से वाक्य असृष्टाथक हो जाता है।<sup>१</sup>

खण्डन—यति वेदातियों की असृष्टता को स्वीकार कर लिया जाय तो सब प्रथम तो सभी प्रकार की शक्तियों का लोप हो जाता है। (२) य वेत्ती तो भी व्यवहार में आकर जगत की सत्ता का स्थापन करते हैं और व्याकरण भी व्यवहार के लिये पद में प्रवृत्ति प्रत्यय के व्यवहार को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार लौकिक व्यवहार में जगत की सत्ता भी माननी पड़ती है तथा व्यवहार पक्ष में वण पद वाक्यादि की भी अलग-अलग स्वतंत्र सत्ता माननी पड़ती है। अतः विभिन्न शब्द गतियों के मानने में भी कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। भू हरी ने भी कहा है कि—

उपाया शिक्षमाणानां याल्लामुपलक्षणा ।

असत्ये यत्तन्नि स्थित्वा ततः सत्यं समाहिते ।<sup>२</sup>

व्यक्तियों ने जहाँ परमादिक रूप में सब कुछ असत्य माना है यही पर व्यवहार देना में उन्हें भी अभिधा तथा लक्षणा जहलाना अत्रदक्षणा तथा जहदजहलक्षण मानना ही पड़ा है। अतः जब अभिधा और लक्षणा का विभाग हो ही सकता है, तो व्यक्तियों का विभाग भी परम में अनुचित न होगा।

अतः व्यक्तियों का मानना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार अभी तक जो भी विचार हुआ है, वह सभी व्यक्तियों के आधार पर किया गया है। इसमें व्यक्तियों से हटकर असृष्टताय का आधार पर विचार किया गया है। आगे व्याख्या के अनुमान का विषय बताने वाले महिम प्रवृत्त विचारों का उल्लेख किया जायगा।

## अनुमानवादी महिम भट्ट और व्यजना

महिम भट्ट - व्यजना के विरोधियों में महिम भट्ट का नाम विशेष प्रसिद्ध है। इन्होंने व्यञ्जना की व्याख्या करते हुए 'व्यक्ति विवेक' नामक एक पूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। अथ विरोधियों ने तो प्रसंगत इसका खण्डन कर लिया है। इस व्यक्ति विवेक की दो टीकायें या विवक्ति प्राप्त हैं। प्रथम राजानक श्यक का 'व्यक्ति विवेक व्याख्या' और दूसरी मधुसूदन शास्त्री की 'मधुसूदनी विवक्ति'।

अनुमान द्वारा व्यग्राय बोध—इस ग्रन्थ द्वारा प्रथम बार व्यग्राय बोध के लिए 'रस' की सीमा से हट कर उसे अनुमान का विषय सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। महिम भट्ट ने ध्वनिवादियों द्वारा दिये गये सभी उदाहरणों को अनुमान द्वारा सिद्ध किया है। व्यग्राय का उद्देश्य 'परार्थानुमान रूप' माना है। उद्देश्य ध्वनि के लक्षण का प्रथम विमश में लक्षण किया है। द्वितीय विमश में ध्वनि की परिभाषा में 'प्रथम भेद' और पुनरुक्ति आदि दोषों की चर्चा की गई है, और तृतीय में ध्वनिवार के सभी उदाहरणों को अनुमान द्वारा सिद्ध करने के लिये उसके रस को बूँदने का प्रयास किया है। इसका सांगत यह है कि विभावानुभाव आदि की प्रतीति से ही रस की प्रतीति होती है। अतः विभावादि रस प्रतीति के साधक लिङ्ग हुए। इस प्रकार अनुमान द्वारा इस साधक लिंग की सहायता से रस की सिद्धि की गई है। उनके अनुसार पञ्चावयव युक्त अनुमान वाक्य इस प्रकार बनेगा— 'राम सीता विषयक रतिमान तथा विन्ददाणस्मितकटाक्षवत्वात् या नर सो नव यथा लक्ष्मण' इस प्रकार के सभी अनुमान वाक्यों को समझने के लिये आवश्यक है कि 'यायगाश्च भवन्ति अनुमान प्रमाण और उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया की समझ लिया जाय।

अनुमान स्वरूप —अनुमान के स्वरूप का निर्धारण करते हुए बताया गया है कि लिंग परामर्श को अनुमान कहते हैं। जिससे अनुमिति है उसे अनुमान कहते हैं और लिंग परामर्श से अनुमिति होती है, अतः लिंग परा

मश को अनुमान कहत है। अग्नि आदि का ज्ञान अनुमिति है और उसका कारण धूमादि है। अतः धूमाग्नि, अग्निआदि ज्ञान का कारण होने से अनुमान है। वात्स्यायन ने अपने वाक्य में बताया है कि प्रत्यक्ष प्रमाण सजात लिंग के द्वारा अथ के पीछे से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का अनुमान कहते हैं।<sup>१</sup> अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा किसी अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान होना ही अनुमान कहा जाता है इसमें एक वस्तु की सहायता से दूसरी वस्तु का ज्ञान होता है। इस ही न्यायिक 'व्याप्ति' कहते हैं। अर्थात् साहचर्य के नियम को ही व्याप्ति कहते हैं।<sup>२</sup> जैसे— यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र अग्नि इस साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं।

लिंग का स्पष्टाकरण करते हुए कहा गया है कि लीनम अथ गमयति इति लिंगम्' अर्थात् गुप्त अथ का जो प्रत्यक्षीकरण कराये उसे लिंग कहते हैं, तथा लिंग का तृतीय ज्ञान परामश है।<sup>३</sup> अथवा याप्ति विशिष्ट पक्ष घमता ज्ञान को परामश कहते हैं। उदाहरण के लिए घर में प्रथम बार या द्वितीय बार अग्नि धूम का साहचर्य 'प्रथमदशन' है। इस याप्ति ग्रहण के उपरांत पवतादि में धूम दशन द्वितीय ज्ञान है। इस द्वितीय दशन से धूम और अग्नि के प्रथम साहचर्य की स्मृति हो जाती है। और यह ज्ञान हो जाता है 'वह्निवाप्य धूमवाश्रयाय पवत है।' इसी को तृतीय ज्ञान कहते हैं और यही अनुमिति के प्रतिरक्षण (माधन) ज्ञान से अनुमान कहा जाता है।

इस तृतीय ज्ञान के दो अंग हैं। प्रथम व्याप्ति सम्प्रथ और दूसरा पक्ष घमता—अर्थात् धूम का पवत रूप पक्ष में अस्तित्व होना। इस प्रकार ज्ञान हो गया कि जहाँ जहाँ धूम है वहाँ अग्नि का ज्ञान अनिवाय है। यही विचार 'परामश' कहा जाता है। परार्थानुमान (जहाँ दूसरों को अनुमान कराया जाता है) उसमें इस परामश का महत्वपूर्ण स्थान है। इस ज्ञान के सम्प्रथ में केशव मिश्र ने भी इसका समर्थन किया है।<sup>४</sup>

(१) लिंग परामर्शानुमानम् । अनहि अनुमीयत तदनुमानम् । लिंग परामर्शेन चानुमीयते नो त्रिग परामर्शानुमानम् । तत्र भाषा—अनुमाननिरूपणम्—पृष्ठ ७१-७२

(२) मितेन लिंगेन अयस्य अनुपश्चमानानुमानम् याम दशन-वात्स्यायनभाष्य १।१।३

(३) साहचर्य नियमो व्याप्ति—तत्रभाषा पृ० ७२

(४) लिंगस्य तृतीय ज्ञान परामर्श । तत्रभाषा ७२

(५) तदनेन ज्ञानेन धूमाग्निं याप्ती गृह्यमाणया महानम यद्धूम ज्ञान तदप्रथमम् । पवतादी यो यद्धूमज्ञानम् तद्विशिष्टायम् । तत्र

जहाँ सदिग्ध अथ के प्रति स्वय अनुमान उपयुक्त सरिणि से किया जाता है वहाँ स्वार्थानुमान<sup>१</sup> और जहाँ दूसरो को इसका बाध कराया जाता है वहाँ परार्थानुमान<sup>२</sup> कहा जाता है। इस परार्थानुमान के लिए प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण, उपनय और निगमन कहते हैं। उदाहरणो द्वारा तक सग्रह म बताया गया है कि प्रतिज्ञादि ये परार्थानुमान के पाँच अवयव होते हैं। यथा —

- (१) प्रतिज्ञा— पवतो वह्निमानिति— इस पवत मे अग्नि है।  
 (२) हेतु— धमवत्वादिति— क्योंकि वहा धुँवा है।  
 (३) उदाहरण— या या धूमवान् स स और जहा जहा धूम होता वह्निमान् यथा महान है वहाँ वहा अग्नि होती है। जसे रसाइ मे।  
 (४) उपनय— तथा चायमिति— यह भी वसा ही है।  
 (५) निगमन— तस्मात्तथा — अत यह पवत भी उसी प्रकार है अर्थात् अग्नि पूण है।<sup>३</sup>

इस प्रकार यक्त हुआ कि परामश के कारण हान वा चाग को 'अनुमिति' कहते हैं और उस ज्ञान का प्रमाण अनुमान बना जाता है। इस अनुमान में याति अर्थात् साध्य नियम का होना आवश्यक बताया गया है। यह स्याप्ति कई प्रकार की होती है।

पूर गृणीता नूमाग योव्याप्ति स्मृत्वा यत्र नूमस्तनाग्निरिति ।  
 तत्र पवत पुत्रधूम परामर्शाति । अस्त्यत्र सवते वह्निना स्याप्ती  
 धूम इति । तन्दि धूमज्ञानम ततीयम । तस्मात्तथा—७७

- (१) सगथ स्वप्रतिपत्ति हेतु — पृष्ठ ७६  
 (२) यत्तु वदिचन स्वय धूमाग्निमनुमायपर बाधयत्तु पञ्चावयव  
 मनुमान वाक्य प्रयुङ्गते तत परार्थानुमानम । — तस्मात्तथा—  
 पृ० ८०  
 (३) प्रतिज्ञाहेतु उदाहरणोपनयनिमानि पञ्चावयव । पवतो वह्नि  
 मानिति प्रतिज्ञा । धूमवत्वादिति हेतु । या यो धूमवान् ग स  
 वह्निमान यथा महानस इत्युदाहरणम् । तत्र सग्रह—पृष्ठ ६

इस व्याप्ति का अर्थ अथवा व्याप्ति, व्यतिरेक व्याप्ति तथा अवयव-व्यतिरेक व्याप्ति कहे मय हैं। जैसे जहाँ धूम है वहाँ अग्नि होती है इसे अवयव-व्याप्ति कहते हैं। तथा जहाँ धूम नहीं है, वहाँ अग्नि नहीं होती इसे व्यतिरेक-व्याप्ति कहा जाता है। अवयव व्याप्ति में जो व्याप्त (हेतु) धूम होता है, उसका अभाव व्यतिरेक व्याप्ति में व्यापक (साध्य-अग्नि) होता है। तथा जो व्यापक होता है उसका अभाव वहाँ व्याप्य होता है। कुमारिल भट्ट ने भी इसका समर्थन किया है।<sup>१</sup> व्यतिरेक व्याप्ति के सग हेतु और साध्य का सम्बन्ध पाया जाता है जैसे पृथ्वी से मिन तत्त्व में गन्धत्व नहीं है जैसे जल में। अवयव-व्यतिरेक का हेतु वहाँ हाता है जहाँ पर अवयव तथा व्यतिरेक दोनों का ही उदाहरण एक साथ मिल जाय। धूमवत्त्व अवयव व्यतिरेक का हेतु है। व्याप्ति को बोलते समय व्याप्य का और व्यापक को वाद में यत्र यत्र तथा तत्र तत्रके साथ बोलना चाहिए जसा ऊपर स्पष्ट किया गया है।

हेतु के पाँच रूप—इस प्रकार तीन प्रकार के हेतुओं की चर्चा की गई है। अब यह बताया जायगा कि हेतु के पाँच रूप होते हैं। इनमें से यदि एक भी रूप की कमी हो जाय तो इनमें गुड हेतु न बटकर हेतुभास कहत है और वे अपने साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ हो जाते हैं।<sup>२</sup> इन पाँचों रूपों को शमश पक्षत्व, सपक्षत्व, विपक्षव्यावृत्ति, अवाधित विपक्षत्व और असा-प्रतिपक्ष कहते हैं।

इनमें सौम्य साध्यवान् पक्ष अर्थात् साध्यवह्नि सौम्य अवस्था में हो, वहाँ पक्ष होगा। जम पक्षत्व में अग्नि है क्योंकि वहाँ धूम है। इस उदाहरण में पक्षत्व में अग्नि का सिद्ध किया गया है अतः पक्षत्व पक्ष होगा। 'निश्चित साध्यवान् सपक्ष' अर्थात् जिसमें साध्य वह्नि अग्नि का निश्चय हो—निश्चित साध्य स युक्त घटों को सपक्ष कहते हैं। जस उदाहरण अनुमान

१ व्याप्यव्यापकभावाहि भावयोर्यावन्मिष्यते तयोरभावोस्तस्माद् विपरीत प्रतीयते। अवयव साधन व्याप्य साध्य व्यापकमिष्यते। तद्भावोऽवयव व्याप्यो व्यापक साधनात्यय। व्यापस्य यत्रा पूज व्यापकस्य तत्र परम्। एव परीतिता व्याप्ति स्तुतीभवति तस्यत - श्लाकवातिक—१२१-१२३

२ एतेषा त्रयाणा मध्ये यो हेतुरवयवव्यतिरेकी स पञ्चव्याप्यपक्ष एव स्वसाध्य साध्ययितु क्षमत्, नत्वनेनापि रूपेण हीन—तत्रभाषा-पृ० ८६।

मे रसोर्धर सपत्न है। क्योंकि उसमें अग्नि का निश्चय है। इस 'सपक्ष रूप' महानस (रसोर्धर) में धूम रूप हतु हुआ। क्योंकि रसोर्धर में धूम और अग्नि का नियतसाहचय देखा जाता है। अवयव व्याप्ति में इसी 'सपक्ष' को उदाहरण के रूप में रखा जाता है। "और निश्चित स याभाववान विपक्ष ।" अर्थात् विपक्ष में साध्य का अभाव निश्चिन होता है। 'व्यतिरेक व्याप्ति में यही विपक्ष' उदाहरण रूप में रहता है। 'जमे जहाँ-जहाँ धूम का अभाव है, वहाँ वहाँ अग्नि का भी अभाव होता है। जैसे तालाब में।' यहाँ तालाब विपक्ष है। क्योंकि तालाब में साध्य रूप अग्नि का अभाव निश्चित है। और इसमें धूम भी नहीं रहता है। इस विपक्ष कहने हैं।<sup>१</sup>

इसी प्रकार 'धूमवत्वहतु' अवाधित विषय : क्योंकि धूमत्व हेतु का विषय अग्निमत्व पक्ष रूप पक्ष में किसी प्रमाण से वाधित नहीं है। असत्प्रति पक्षत्व भी धूमत्व में ही है। इसका अर्थ हुआ—जहाँ प्रतिपक्ष अविद्यमान है। इस प्रकार जहाँ पाचों हेतु होते हैं वहाँ गुद हेतु कहा जाना है और किसी भी एक के न रहने पर हेत्वाभास कहा जाता है।<sup>२</sup> क्वचि अत्रयी हेतु विपक्ष रहित चार हेतुओं से युक्त होता है और केवल व्यतिरेकी सपक्ष रहित चारों रूपों से युक्त होता है।

हेत्वाभास—अब तब यह स्पष्ट हो चुका है कि अनुमान में हेतु का बहुत अधिक महत्व है। अतः पञ्चावयव युक्त हेतु का होना आवश्यक है। इनमें एक की भी कमी रहने से उसे अगुदहेतु कहते हैं। ये हेतु के समान प्रतीत तो होते हैं परन्तु वास्तव में इन्हें हेतु न कहकर अगुद हेतु या हेत्वाभास कहा जाता है। इन्हें दुष्ट हेतु की सजा भी दी गई है। अनुमान द्वारा प्रतीयमान अर्थ का बोध कराने वाले ध्यञ्जना विरोधी महिम भट्ट की अनुमान प्रक्रिया में इस प्रकार का दोष वर्तमान है जिसका खण्डन भूमट ने इसी आधार पर किया है। अतः इन हेत्वाभासों को समझ लेना प्रस्तुत प्रसंग के अर्थ ग्रहण करने में सहायक सिद्ध होगा।

१ सति दग्ध साध्यव न पक्ष । यथा धूमवत्त्वे हेतौ पक्षत । निश्चित साध्यवान सपत्न । यथा तत्रैव महानस । निश्चितसाध्याभाववान विपक्ष । यथा तत्रैव महाहृद । तत्र सग्रह पृ० ४३ ३४ तकमार्ग-०७ ।

२ तत्र भाषा पृ० ८६ यस्त्व मे अहेतुरितियावत ।



इस हेत्वाभास के पाँच भेद विद्यमान हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनव्याप्तिक प्रकरणसम (वाधित विषय) और वात्तारययापत्ति (सत्प्रतिपक्ष) ।

असिद्धहेत्वाभास—इसमें असिद्ध हेतु वह हो जिसकी स्थिति हो न हो इसका भेद आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, व्याप्यत्वासिद्ध है ।

जिस हेतु का आश्रय या पक्ष ही न हो उसे आश्रय सिद्ध हेत्वाभास कहते हैं जैसे—आकाश कमल गुणविधत् होता है । कमल हान से, सरास कमल के समान है परंतु इस वाक्य में आकाश कमल हेतु का आश्रय पक्ष—उसकी स्थिति ही रहा होती है ।<sup>१</sup> अतः आश्रय-पक्ष—वे न रहने से अनुमान प्रतीत होता हुआ भी यह केवल हेतु का आभास मात्र है, और इसे आश्रय सिद्ध हेत्वाभास कहते हैं । स्वरूपासिद्ध का आश्रय तो होता है परंतु उस आश्रय में हेतु नहीं रहता है । 'यो हेतुराश्रये नावगम्यत स स्वरूपासिद्ध' । जमे शब्द "अनित्य है चाक्षुष होने से, घटक के समान,' अनुमान वाक्य में शब्द का हेतु चाक्षुष बताया गया है जो असत्य है । क्योंकि पक्ष-आश्रय रूप शब्द नेत्र ग्राह्य नहीं होता, ध्वनि ग्राह्य होता है ।<sup>२</sup> अतः असिद्ध हो जाता है । यहाँ स्वरूपासिद्ध है ।

व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास दो प्रकार का होता है । (१) व्याप्ति ग्राहक प्रमाण के अभाव में । (२) उपाधि के सद्भाव में । इनमें व्याप्ति की सिद्धि नहीं रहती जहाँ उपाधि से युक्त हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं जैसे—पर्वत में आग हान से धुआँ है' वाक्य में धूम का व्याप्ति सम्बन्ध केवल अग्नि से नहीं माना जा सकता है । जब तक कि गोली लकड़ी की अग्नि न हो अतः लकड़ी का गोली होना दहा उपाधि के रूप में है ।

(२) विरुद्ध हेत्वाभास—साध्य के विपरीत (विषय-अभाव) के साथ व्याप्त हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है ।<sup>३</sup> जैसे शब्द 'नित्य है जय (काय) होने से,' वाक्य में जितनी भी वस्तुएँ काय होती हैं वह सभी अनित्य होती हैं । शब्द भी काय है अतः वह भी अनित्य होगा । यहाँ जयत्व का जो हेतु दिया गया है वह साध्य (नित्यत्व) के साथ ठीक नहीं बैठता है अतः विरुद्ध पडता है । अतः विरुद्ध हेत्वाभास होगा ।

१ आश्रयासिद्धो सच नास्त्येव । तदभासा पृ० ६१

२ स्वरूपासिद्धो यथा अनित्य शब्द चाक्षुषत्वात् घटवत् । अत्र चाक्षुषत्व हेतु म च शब्द नास्त्येव, तस्यधावणत्वात् ।

३ तदमप्य-अनुमाननिरूपणम् पृष्ठ ६४

३ (३) सध्यभिचार—(अनवातिक) हेत्वाभास—जो हतु पक्ष, विपक्ष सभी में रहता हो उसे अनवातिक हेत्वाभास कहते हैं। नियम के अनुकूल विपक्ष में उसे नहीं रहना चाहिए। जैसे शब्द 'नित्य' है। पातय होने के कारण आकाश के समान यह दुष्ट हेतु है। क्योंकि पातय पदाय तो अनित्य है। 'यद्वा प्रमेयत्व' हेतु नित्य अनित्य सभी में रहता है। अतः यह ठीक नहीं हुआ।

(४) सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास—जहाँ अथ प्रमाण से साध्य का अभाव निश्चित हो अर्थात् तुल्य बल वाले दो विपरीत हेतुओं का होने पर ही बाधित विषय होता है। जैसे शब्द 'नित्य' है नित्यधम रहित होने के कारण। शब्द नित्य है, अनित्य धम रहित होने के कारण। अनुमान में पहले वाक्य में नित्य धम रहितत्व ये दोनों हेतु एक दूसरे के साध्य से विपरीत अथ का सिद्ध करना चाहते हैं। अर्थात् शास्त्र में नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों की सिद्धि इन दो अनुमान वाक्यों से ओतप्रोत है। अतः तुल्य वत् विरोधा हेतु होने से सत्प्रतिपक्ष है।

(५) बाधित विषय—जहाँ साध्य का अभाव किसी अथ प्रवर्तमान प्रमाण से निश्चित हो जाय, वहाँ बाधित विषय कहा जाता है। जैसे अग्नि उष्णता रहित है, वृत्तक जल होने से जल के समान अनुमान में अग्नि का उष्णत्व प्रत्यक्ष प्रमाण (त्वचाओं के स्पर्श से ही) से प्रमाणित है। यहाँ साध्य अनुष्णत्व का अभाव अर्थात् उष्णता का अग्नि में होना प्रमाणित है। अतः यह बाधित विषय हेत्वाभास हुआ।<sup>२</sup>

इस प्रकार संक्षेप में अनुमान की प्रक्रिया का ज्ञान हो जाने पर महिम भट्ट द्वारा व्यञ्जना का विरोध समझना सरल हो जायगा। महिम भट्ट ने भी प्रतीयमान अथ की स्थिति को स्वीकार किया है। तथा यह भी मान लिया है कि वाक्य अथ की अपेक्षा प्रतीयमान अथ में चमत्कार अविवक रहता है। उन्होंने कहा है कि वाच्य अथ उतना आस्वादक नहीं होता है जितना प्रतीयमान अथ<sup>३</sup>

२ तत्रभाषा—पृष्ठ ६४

३ यथाअग्निरनुष्ण वृत्तवत्वाज्जन्वत । अत्रहि वृत्तवत्त्वस्य हेतो साध्य मनुष्णत्व तदभाव प्रयत्नधाय चारित स्पर्शन प्रयत्नोष्णत्वो पत्रम्भात" तत्रभाषा । ६५ ।

१ ध्यवित विवेक—पृष्ठ ७३

इति। मानकर भी इस प्रतीयमान अथ का बताने में शब्द की किसी शक्ति का समर्थन न करके यह इस अनुमाप का त्रिपथ मानते हैं, और अपने ग्रन्थ में उन्होंने बताया है कि व्यंग्य अनुमयाथ ही है।<sup>१</sup>

दो प्रकार के शब्द—महिम भट्ट के अनुसार शब्द वाच्य और अनुमेय दो ही प्रकार के हो सकते हैं। इनमें वाच्य अथ ही मुख्य अथ होता है, क्योंकि शब्द व्यापार से इसका सीधा अर्थ होता है। प्रतीयमान अथ वाच्याप के द्वारा अनुमित होता है। इस प्रतीयमान अथ रूप हेतु स जिसकी अनुमिति हाती है उस अनुमेय अथ कहते हैं। अन्तु अलंकार रूप अथ तो वाच्य भी हो सकता है, परन्तु उस सदा ही अनुमेय होता है।<sup>२</sup> इस प्रकार ध्वनिवार के पद चिह्नों पर चलते हुये व्यञ्जना जसी पद बली पर ही इनका विरोध प्रतीत होता है। मम्मट ने भी रसादि रूप अथ को स्वप्न में ही वाच्य नहीं माना है।<sup>३</sup>

महिम भट्ट ने बताया है कि वस्तुतः रसादि रूप अनुमेय अथ व्यञ्जित नहीं होता है। इनमें भी धूभाग्नि के समान गम्य गमक का भाव होता है। परन्तु अपनी तीव्रता के कारण ध्रम स योग इमे योग्य व्यञ्जक भाव मानते हैं। वस्तु और अलंकार रूप अनुमयाथ में गम्य-गमक भाव स्पष्ट देख पढ़ने से व्यंग्य व्यञ्जक भाव मानना की आवश्यकता ही नहीं है। बयाकरणों के ध्वनि और स्फोट रूप अथ में ध्वनि रूप शब्द अनुमापक और स्फोट रूप अथ अनुमाप्य है। अतः यह अथ अनुमाप्य हुआ। और उसका बोध कराने वाला व्यापार अनुमान ही कहा जायेगा।<sup>४</sup> मम्मट ने भी पूर्व पक्ष के रूप में इसे उपस्थित करते हुए कहा है कि वाच्य से असम्बद्ध अथ की प्रतीति नहीं होती है। यदि ऐसा मानें तो किसी भी शब्द से किसी भी अथ की प्रतीति होने लगेगी। इस प्रकार योग्य व्यञ्जक भाव व्याप्ति के बिना निश्चित ही नहीं

२ अनुमानः तर्भाव सव्यव ध्वने प्रकाशयितुम्।

व्यक्तविवेक कुरते प्रणम्य महिमा परा वाचम। व्य० वि० १/१

३ तत एव तदनुमिताद्वा लिंगभूताद्यदर्थान्तरमनुमीयतेसोऽनुमेय।

स च त्रिविधः, वस्तुमात्रमलङ्कारारसादयश्चेति। तत्राद्यो वाच्या

वपि सम्भवतः। अयम्वनुमेय एवेति। व्यक्तविवेक पृ० ३६

४ सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्वयो भेदा, व्यंग्यस्य त्रिरूपत्वान्। तथाहि किञ्चिद्वाच्यता सहत किञ्चिदयता। रसादिलक्षणस्याथ

स्वप्नऽपि न वाच्यः। वा य प्रकाश पचम उल्लास पृ० २१७

५ व्यक्तविवेक पृ० ५७

हो सकता है। अतः व्याप्ति युक्त और नियत घर्मों (पक्ष) में रहने के कारण तीनों रूपों वाले (पक्ष सपक्ष, विपक्ष) धूमादि रूप हतु के समान लिङ्ग से लिङ्गी (वह्नि आदि के समान साध्य) का जो अनुमान उसी रूप में व्यञ्जक यञ्जक भाव का पयवचान होता है<sup>१</sup> अर्थात् लिङ्ग के तीन रूप पक्ष विपक्ष और सपक्ष, इन तान रूपों से युक्त हतु गुद्ध हेतु है। और एक की भी न्यूनता से हेत्वाभास होता है। इस प्रकार व्याप्ति और पक्षघमतायुक्त तथा त्रिरूप विशिष्ट लिङ्ग से लिङ्गी वचान का ही अनुमान कहा जाता है। तथा व्यग्य अथ की प्रतीति भी व्याप्ति सम्बन्ध और पक्ष घमता के बिना सम्भव नहीं। अतः व्यग्य व्यञ्जक भाव की प्रतीति अनुमान द्वारा ही सम्भव है।

### उदाहरणों की अनुमान द्वारा सिद्धि —

महिम भट्ट ने ध्वनिकार क द्वारा दिये गये उदाहरणों को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया है। ऊपर बताया जा चुका है कि व्याप्ति और पक्ष घमता, ये अनुमान के दो अंग हैं। अतः व्यग्य व्याप्ति भाव पदार्थों और व्यक्ति रेक व्याप्ति अभाव पदार्थों का होता है। जैसे— 'यत्र यत्र धूम तत्र तत्र वह्नि' अन्वय व्याप्ति और 'यत्र यत्र वह्नि भाव तत्र तत्र धूमाभाव' यह यतिरेक व्याप्ति हुई। महिम भट्ट ने ध्वनिकार द्वारा दिये गये गाथा में<sup>२</sup> गोदावरी तीर पर पण्डित जी के न जान क लिये, इसी यतिरेक व्याप्ति का आश्रय लिया है। विधिरूप में भ्रम क बन का कहा गया है। साथ ही सिंह कि उपस्थिति भी बताई गई है।<sup>३</sup> पण्डित जी जब भोर यति का भ्रमण तो तब बन सकता था जब भय का कारण वहां न हाता। पर नु वहाँ सिंह रूप भय का कारण विद्यमान है। इसलिये यहां भयकारणोपलब्धि रहने से साधनाभाव (अर्थात् भयकारणोपलब्धि का अभाव, अर्थात् भयकारणोपलब्धि पाया जाता है। उससे साध्य विधिरूप भ्रमण का निषेध भ्रमणाभाव ही सिद्ध हो सकता है।

इस गाथा में महिम भट्ट ने बताया है कि<sup>३</sup> वाच्य और प्रतीयमान दोनों ही अथ भ्रमण प्रतीत होते हैं। तथा धूम और अग्नि के समान इसमें साध्य साधन भाव है। कुत्ते के मार जाना पर उसमें नूर सिंह की उपस्थिति भ्रमण का निषेध करती है, और इस निषेधाथ का प्रतीति अनुमिति ज्ञेय है। इसको

१ वाच्य प्रकार-पञ्चम उल्लास पृ० २५८

२ भ्रमणामिकविश्व घ स नूनकोऽथ पाण्डितस्तेन ।

गोदानदीकच्छुनुज्जवातिनाहृत्सिंहेन ॥ गाथा सप्तसती २/७५

३ व्यक्ति विवेक ततीय विभाग पृ० ४०० खो० म० सीरीज

अनुमान वाक्य में इस प्रकार कहा गया है कि जहां जहाँ भय जनक वस्तु होगी वहाँ भीरु यक्ति नहीं जायगा। गोदावरी तीर पर भयकर सिंह है। अतः भीरु भ्रमण अयोग्य है। इसमें को निम्नलिखित वाक्यों में स्पष्ट किया जा सकता है।

- १ साध्य प्रतिपा—“गोदावरी तीर भीरु गोदावरी का तीर डरपोक भ्रमणायोग्य” — के भ्रमण के अयोग्य है।
- २ हेतु साधन— “भयकारणसिंहोप भय के कारण सिंह की लब्धेत् — उपलब्धि होने से।
- ३ यतिरेक-याप्ति-यद्यत् भीरु भ्रमण- (जो जो भीरु के भ्रमण के योग्य तत्तद्भयकार योग्य है वह (स्थान) भय नाभाववत् तथा गृहम् के कारण से रहित है जैसे घर (लिङ्ग या हेतु)
- ४ उपनय— “न चेद् तीर तथा (यह) तीर सिंह की उप- भयकारणाभाववत् स्थिति से भय के कारण के सिंहोपलब्धे ’ अभाव से मुक्त नहीं है।
- ५ निगमन— “तस्मात् भीरु अतः भीरु व भ्रमण के भ्रमणायोग्यम्” — अयोग्य है।

इस प्रकार पञ्चावयव युक्त अनुमान वाक्य द्वारा महिम भट्ट ने भ्रमण के निषेध को सिद्ध किया है। इसी बात को मम्मट न पूव पक्ष के रूप में उपस्थित किया है।<sup>३</sup> इस प्रकार “यत्त हो गया कि घर में बुत्ते के भी न रहने से भ्रमण योग्य है। तथा गोदावरी तीर पर सिंह के रहने के ज्ञान के द्वारा भ्रमण के अभाव का अनुमान कराता है। इसे हेतु कहेंगे। व्याप्ति में—जो जो भीरुओं के भ्रमण योग्य होता है वह भय कारण के अभाव के पान पूर्वक होता है। परन्तु गोदावरी तीर पर भय के कारण की उपलब्धि होने से साधन का अभाव माना जायेगा अतः यहाँ साध्य भीरु भ्रमण व सम्बन्ध में भय के कारण के अभाव की उपलब्धि न होकर उसके विरुद्ध भय व कारण सिंह की उपलब्धि

३ “अत्र गृहे श्वनिवृत्या भ्रमण निहित गोदावरी तीरे सिंहोपलब्धेर भ्रमणमनुमायति । यद् यद् भीरुभ्रमण तत्तद्भयकारणनिवृत्युपलब्धि पूर्वकम् गोदावरी तीरे च सिंहोपलब्धि परिगति व्यापक विरटोपलब्धि ” का० प्र० प० उ० पृष्ठ २६०

होने से साधन का अभाव माना जायेगा। अर्थात् अभाव साधक सिंह की उपलब्धि होती है। अतः यहाँ व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर अनुमान के द्वारा भ्रमण के निषेध की प्रतीति हो जाती है। इसी से व्यञ्जना मानने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि उसका काम तो अनुमान से ही चल जाता है। इसी प्रकार इ होने अथ उदाहरण को भी अनुदान द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु ध्वनिवादियों में आचार्य मम्मट और विश्वनाथ ने इसका खंडन किया है।

### महिम भट्ट का खण्डन—

(१) भट्ट ने वाच्य और अनुमेय दो प्रकार के अर्थों को ही माना है। परन्तु व्यंग्याथ की स्थिति को भी उपचार वृत्ति द्वारा स्वीकार किया है। रसादि प्रतीति में उसका व्यवहार भी पाया जाता है। इस प्रकार एक ओर व्यजना को न मानना और दूसरी ओर व्यंग्याथ को स्वीकार करना स्पष्ट रूप से स्ववचन विरोध ही माना जायगा। इससे बचने के लिये उन्होंने रसादि रूप अर्थ के लिये व्यंग्य व्यञ्जक भाव को औपचारिक और भ्रातिजनक कहा है। यदि रसादि रूप व्यंग्याथ को भ्रातिजनक ही मान लें तो पुनः व्यंग्य अर्थ के उल्लेख का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। यदि उपचार से व्यंग्याथ को मानना ही है तो इसी के द्वारा व्यजना प्रति मानने में भी कोई हानि नहीं होगी।

(२) महिमभट्ट ने प्रतीयमान या व्यंग्याथ को अनुमेय मानकर उसका नाम 'वाचानुमिति' दिया है। उन्होंने कहा है कि वाच्य द्वारा अनुमित अर्थ जब किसी दूसरे अर्थ का किसी सम्बन्ध से प्रकाशित करता है तो उसे 'वाचानुमिति' कहते हैं। इस प्रकार विचार करने से ज्ञात होता है कि महिमभट्ट ने वाचानुमिति और ध्वनिवादियों के व्यजना के मूल रूप में कोई अंतर नहीं है। केवल नाम मात्र का भेद है।

(३) ऊपर जो उदाहरण दिया गया है कि "राम सीमाविषयक रतिमान् तत्र विलक्षणा स्मित वटाक्ष वत्वात् या नव सो नव यथा लक्ष्मण" इसमें ध्वनिवादियों का यह कहना है कि इस अनुमान वाक्य में राम के मन में उत्पन्न सीता के प्रति रति के अनुमान का गान होता है। परन्तु इस गान को 'रस' सना नहीं दी जा सकती है। रस सद्दयों के हृदय में उत्पन्न एक अतीविक्रम आनन्द है। व्याप्ति न होने से उसका बोध अनुमान द्वारा सम्भव नहीं है। और नवयिकों ने रसबोध को जो अनुमान या स्मृति का विषय माना है। तथा इस प्रकार व्यजना का निराकरण किया है। उस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना है कि (१) दूसरे की वृत्ति का अनुमान लगा देना ही रस

गही कहा जायगा, अग्निब्रह्म की अतीविक्रम आनन्दानुभूति ही रस है, और यह अनुभव गही है।

(ii) रसति सत्त्व पात वस्तु की होती है, अज्ञात की नहा। तथा इससे सारबोध की उत्पत्ति नहीं होती है। अग्निब्रह्म की देखी सुनी या समझी हुई वस्तु का वर्तमान में ध्यान मात्र ही आ जाता है। रस की स्थिति बबल अनुभव दत्ता में ही रहती है। पूव या पश्चात् नहा। अतः रस अनुभव नहीं हो सकता है। उसे तो ध्यजना का ही व्यापार मानना होगा। जिसको महिम भट्ट अनुमान द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं वह रस में भिन्न कुछ और ही पदार्थ है। इस प्रकार रस की सिद्धि अनुमान द्वारा न होकर रस से भिन्न पदार्थ की सिद्धि होती है।

(४) ऊपर धार्मिक वाले प्रसंग में अथ और व्यतिरेक व्याप्ति भी टीका नहीं बैठती है। जिस 'भ्रमधार्मिक' गायिका में महिमभट्ट धार्मिक व भ्रमण का निषेध को अनुमान का विषय बनाना चाहते हैं। उस अनुमान का स्वरूप "गोदावरी तीर धार्मिक भीरु भ्रमणायोग्य सिद्धवत्वात् यन्व तन्व यथा गहम्" इस प्रकार होगा। इस उदाहरण में सिद्धवत्वात् हेतु और भीरु भ्रमणायोग्यत्व साध्य होगा। अर्थात् जहाँ जहाँ भय का कारण होगा वहाँ वहाँ भीरु भ्रमण के अयोग्य होगा, यह व्याप्ति बनती है। परन्तु व्यवहार में हम देखते हैं कि भय का हेतु होते हुये भी भीरु व्यक्ति गुरु का आदेश या राजा की आज्ञा से युद्ध क्षेत्र में जाता है, अथवा प्रिया के अनुराग से अथवा इसी प्रकार के अथ हेतुओं से भय युक्त स्थान पर भी जाता है। अतः इसमें व्याप्ति पूर्ण न होने से अनुमान का टीका रूप नहीं कहा जा सकता है।

(ii) इस प्रकार इसमें शुद्ध हेतु न होकर हेतुभास है। इस हेतु में (१) अनकारितिक (२) विरुद्ध (३) स्वरूपातिरुद्ध ये तीन प्रकार के हेतुभास हैं। प्रथम अनकारितिक हेतुभास है क्योंकि जहाँ जहाँ भीरु भ्रमण होता है, वहाँ वहाँ भय के कारण का अभाव ही हो ऐसी व्याप्ति नहीं होती है। भय के स्थानों पर भी भीरु किसी कारण बस जाते ही हैं। अतः अनकारितिक हेतु है।

(iii) इस उदाहरण में गोदावरी तीर 'पक्ष' है। उसमें 'सिंहोपलब्धि' रूप हेतु का होना आवश्यक है, परन्तु पदार्थ वचन प्रमाण ही हो, ऐसी 'व्याप्ति'

१ भीरुरपि गुरो प्रभोर्वाग्निज्ञेन, प्रियानुरागेण, अर्थेन च वभूतेन हेतुना सत्यपि भय कारणे भ्रमतीत्यनवाग्वी हेतु। का० प्र० प० उ० पृष्ठ २६१

नहीं होती हैं। अतः केवल उसी के कथन मात्र स सिद्ध की उपस्थिति को प्रमाणिक नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार गोदावरी तीर पर सिद्ध की सत्ता सदिग्ध है। और इस हेतु (सिंहोपलब्धि) का पक्ष (गोदावरी तीर) में निश्चय न होने से स्वरूपसिद्ध<sup>१</sup> नामक हेत्वाभास है।

(iv) कुत्ते से डरते हुये भी बीरता के कारण सिंह से नहीं डरता है, इस कारण विरुद्धहेत्वाभास<sup>२</sup> है। प्रत्येक गुद्ध हेतु के लिये आवश्यक है कि पक्षसत्त्व सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तत्व तीनों रूप हों। इनमें से एक के भी न हान से वह हेत्वाभास हो जाता है। जो हेतु पक्ष में न हो, वह स्वहृत्वा सिद्ध और जो विपक्षव्यावृत्तत्व<sup>३</sup> धर्म रहित हो उसे 'अनकारितक हेत्वाभास' कहते हैं। इस प्रकार इस उदाहरण में इन कमियों के कारण भ्रमण निषेध का पान अनुमान द्वारा नहीं माना जा सकता है। अथ उदाहरणों को भी इसी प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि वे अनुमयन होकर व्यञ्जनावृत्ति गम्य है। इसके लिये तो व्यञ्जनावृत्ति ही मानना ही पड़ेगा।

इसके विपरीत व्यञ्जनावृत्तियों के मत से व्याप्ति के बिना भा इस प्रकार का गम्य अथ प्रकाशित होता है। अतः अनुमान के द्वारा 'गम्याय की प्रतीति' कभी नहीं हो सकती है और व्यञ्जनावृत्ति उसके लिए अतिव्याप्य है।<sup>३</sup> साथ ही व्यञ्जनावृत्तियों ने पद, पद्यांश अथ, वण सभी द्वारा प्रतीयमान अथ का बाध माना है। परन्तु वस्तु जलकार और रस रूप प्रतीयमान की प्रतीति इनके द्वारा अनुमय होने में अनकारितक हेतु ही जायेगा। इसी से बाद के न्यायियों ने अनुमान के अंतर्गत व्यञ्जना को नहीं माना है। संक्षेप में केवल इतना ही कहना कि व्यञ्जना का अपलाप नहीं किया जा सकता है, और उसकी स्थिति तो माननी ही पड़ेगी।

१ गोदावरी तीरे सिंह सद्भाव प्रत्येक अनुमानाद्वा न निश्चित अभिप्रेत वचनात् न च वचनस्य प्रमाण्यामस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्य मिद्धश्च । का० प्र० प० उ० पृष्ठ २६१

२ गुना विभ्यन्ति बीरत्वन सिद्धात्प्र विभेतीति विरोद्धोपि । का० प्र० प० उ० पृष्ठ २६१

३ एव विधादर्थादेव विधो य उक्त्यनपेक्षत्वं वि प्रकाशत इति ध्यवृत्तवादिन पुनस्तद् अक्षयणम् — का० प्र० प० उ० पृ० २६२



## लक्षणावादी और व्यञ्जना

व्यञ्जना का अपलाप करने के लिए इससे विराधिया का एक और योग रहा है। इन लोगो ने लक्षणा के द्वारा ही व्यंग्याय बाध की बात को स्वीकार किया है। इनका कहना है कि व्यंग्य अथवा वाचन जब लक्षणा से ही हो सकता है, तो व्यञ्जना जैसी शक्ति का मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। जब हम किसी लक्षणा के वाचन का प्रयोग करते हैं, तो उस शब्द द्वारा प्रयुक्त भाव विशेष का व्यञ्जना ही प्रयोक्ता का मुख्य उद्देश्य होता है। जैसे—यदि 'सिंहो माणवक' अर्थात् 'यह बच्चा शेर है' वाक्य को लक्षणा से ही तो इसमें सिंह रूप लक्षणिक प्रयोग का उद्देश्य वाचनक मन्त्रों को दिखाना ही है। प्रश्न यह है कि इस शीघ्र वाचन रूपी प्रयाजन विशेष का वाचनक मन्त्रों की किस शक्ति द्वारा सम्भव है। लक्षणा वाचन के लिए व्यञ्जना नामक एक अथवा शक्ति का अस्तित्व मानना पड़ता है। विचारणीय प्रश्न है कि व्यञ्जना वाचन का काम लक्षणा से चल सकता है या नहीं।

कई लोगो ने लक्षणा और व्यञ्जना को एक दूसरे से अभिन्न माना है। इसके मतानुसार भक्ति ही ध्वनि है। इस मत का खण्डन किया जा चुका है। अतः उसका पुनः खण्डन यहाँ पर व्यर्थ ही है। पाठ्यगण "विवेक" द्वारा "व्यञ्जना की स्थापना" शीघ्र वाले परिच्छेद में देखें। लक्षणा के अतिरिक्त प्रतीयमान अथवा वाचन करने वाले मन्त्रों का अर्थ का विग्रह रूप से नाम लिया जा सकता है। उनके अभिधावृत्ति मात्रता से लक्षणा वाचन द्वारा ही सभी प्रतीयमान अथवा वाचन बताया गया है। युक्त ने भी 'वक्रोक्तिजीवितम्' में उपचार वक्रता के द्वारा प्रतीयमान अथवा वाचन की बात कही है। परन्तु इसके द्वारा केवल लक्षणा मूलका ध्वनि ही इसके अतिरिक्त आ सकती है।<sup>१</sup>

लक्षणावादिनों का ध्रुव पक्ष—इनके अनुसार लक्षणावाचन द्वारा ही व्यंग्याय का बोध माना जायगा। लक्षणा के स्वरूप का निर्धारण करते



सकेहित) शब्द से ज्ञान न होने से अभिधा का व्यापार नही है और लक्ष्याय बोध के कारण इसे लक्षणा का ही व्यापार कहेंगे।<sup>१</sup> इस प्रकार मुकुल भट्ट ने पुण्यत्व, मनोहरत्व रूपी साध्य को लक्षणा का ही प्रयोजन माना है, परन्तु ध्वनिवादो भाषाय इसकी प्रतीति व्यञ्जनावस्ति से ही मानते हैं।

खण्डन —

यदि इस व्यंग्याय रूपी साध्य का बोध लक्षणा से ही माना जाय तो इसके तीन विकल्प हो सकते हैं।

(१) लक्ष्याय बोध कराने के बाद लक्षणा से प्रयोजन का बोध कराये।

(२) उस प्रयोजन को लक्ष्याय ही माना जाय।

(३) यदि प्रयोजन लक्ष्याय में भिन्न है, तो प्रयोजन-प्रतिष्ठ तट आदि की उपस्थिति लक्षणा से मानी जाय।

प्रथम विकल्प के सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकता है कि एक बार लक्षणा जत्र लक्ष्याय की प्रतीति करा जाती है तो उसकी शक्ति का क्षय हो जाता है और उसमें इतनी शक्ति नहीं रह जाती है कि वह किसी और अर्थ का बोध करा सके। ऐसा दत्ता में व्यंग्याय रूप प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा की शक्ति के बाहर का व्यापार है और उसकी प्रतीति व्यञ्जनाव्यापार से ही सम्भव हो सकती है।<sup>२</sup>

दूसरे विकल्प में प्रयोजन को लक्ष्याय मानने की बात कहा गई है। परन्तु मुकुलभट्ट तट को लक्ष्याय मानते हैं पुण्यत्व मनोहरस्वरूप प्रयोजन का नहीं। अतः प्रयोजन का लक्ष्याय मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। फलस्वरूप प्रयोजन का बोध केवल व्यञ्जनाव्यापार से ही हो सकता है अथवा किसी वस्ति से नहीं।<sup>३</sup> क्योंकि—

१—अत्र च लक्षणाया प्रयोजन तटस्य गगात्वज्ञानसमवता प्रतिपादयति  
पुण्यत्व मनोहरत्वादि प्रतिपादनम् । नित्तल पुण्यत्वमनादृष्टत्वादि  
स्वादि स्वच्छु गवयत । अ० व० मा० वा० १० की व्याख्या ।

२—वा० प्र० २ १८-१५ ।

३—अत्रहि गगा-गत्वाभिधेयस्योत्पत्त्या विनाप्य घोषाधिरण  
त्वानुपपत्त्या मुख्य गत्वाय-प्राप्तयि योगी समीपममापि  
भावात्मक सम्बन्धस्तथाधयेन तट तत्पत्ति । अभिधावनिमातृत्वा

१—सकेत ग्रह न होने से अभिधा गम्य, वह प्रयाजन नहीं ही सकता है<sup>१</sup> अर्थात् शब्द का जो साक्षात् अर्थ होता है उसी का ज्ञान अभिधा से हो सकता है। और प्रयोजन का बाध व्यञ्जय शब्द क साक्षात् सकेत का विषय नहीं होता है। इस प्रकार गगाया घोष' म जिस पावनस्व आदि प्रयाजन का तट रूप लक्ष्याय म लक्षणावादी बताना चाहते हैं, उसमे गगा आदि शब्दों का सकेत नहीं है। अतः प्रयोजन की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती है।

२—हेतुओं क न रहन से इसे लक्षणा भी नहीं कह सकते हैं।<sup>३</sup> लक्षणा के तीन प्रकार के हेतु माने गये हैं—मुख्याय बोध, उद्योग और ऋडि या प्रयोजन में से अत्यन्त होना। 'गगाया घोष' का मुख्याय' गगा म (स्रोत) घर है—होगा। लक्ष्याय गगा तट पर घर है और प्रयाजन पुण्यत्व मनोहरत्व का बनाना है।

अब प्रश्न यह है कि (i) यदि उन प्रयाजन को लक्ष्याय मान यानी पुण्यत्व मनोहरत्व रूप घम का लक्ष्याय माना जाय (जसा कि लक्षणावादी कहना चाहता है) तो इसके पूर्व प्रतीति होने वाला वास्तविक लक्ष्याय तट का मुख्याय मानना पडेगा। पर तु वह मुख्याय नहीं है।

(ii) यदि इस तट रूप वास्तविक लक्ष्याय को हम मुख्याय मान लें, तो जिस प्रयाजन (पुण्यत्वादि) को आप लक्ष्याय बहेगे, उसका बाध होने क पहल तट रूप मुख्याय का बाध होना चाहिए। पर तु उसका बाध भी नहीं है क्योंकि तट तो आधार बन ही सकता है। और उस पर घाप (वस्ती) का होना भी सम्भव है। अतः लक्षणा नहीं हो सकता है।

(iii) लक्षणा क लिए बताया गया है कि पहिले मुख्याय बाध होना चाहिए और दूसरे मुख्याय क साथ लक्ष्याय का सम्बन्ध होना चाहिए। यदि शक्य पावनत्व या पुण्यत्वादि को लक्ष्याय तथा तट को मुख्याय मानें तो ऐसी दशा मे तट रूप मुख्याय का शक्यादि रूप लक्ष्याय से सम्बन्ध होना चाहिए। पर तु शक्य पावनत्वादि का सम्बन्ध जल प्रवाह से होता है, तट क साथ नहीं अर्थात् नीतलता जल म रहती है तट पर नहीं। अतः लक्षणा का दूसरा

१—नाभिधा समयभावात् । वा० प्र० २।१५ ।

२—हेत्वाभावात् लक्षणा । वा० प्र० २।१५ ।

३—वा० प्र० २।६ ।

कारण मुख्याय सम्बन्ध भी ठीक नहीं बैठता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि लक्षणावादी द्वारा शब्द पावनत्वादि प्रयोजनों को लक्ष्याय रूप में मान भी लेने पर उस फल का माने गये तट रूप मुख्याय के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता है। इसीलिए इस दूसरे हेतु के अभाव में भी लक्षणा नहीं है।

(vi) लक्षणा के लिये रूढ़ि या प्रयोजन में से किसी एक का होना आवश्यक हेतु माना गया है 'गङ्गायां घोष' में 'गङ्गा' पद तट रूप अर्थ में रूढ़ि या प्रसिद्ध नहीं है। अतः रूढ़ि होना का कोई प्रश्न ही नहीं है। अब प्रयोजन वाली बात रह गयी जाती है। लक्षणावादों के अनुसार यदि शब्द पावनत्वादि को हम लक्ष्याय मान लें तो ऐसी दशा में रूढ़ि के न हान से उसका कोई न कोई प्रयोजन मानना ही पड़ेगा परन्तु (क) इस फल के लिये किसी अर्थ प्रयोजन को मानना उपयुक्त नहीं है।

(ख) और यदि लक्षणावादी प्रयोजन माने ही तो इस प्रथम प्रयोजन का कोई दूसरा प्रयोजन मानना होगा। हो सकता है कि आप उसे भी लक्ष्याय कहें तो पुनः तृतीय प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार प्रयोजन की यह शृङ्खला अबाधित गति से ही चलती ही चली जायगी। और "अनवस्था नामक दोष हो जायगा।" अतः एक प्रयोजन का द्वितीय प्रयोजन मानना शायद संभव नहीं है। और रूढ़ि तथा प्रयोजन में से किसी भी एक हेतु के न होने के कारण लक्षणा नहीं हो सकती है।

(ग) लक्षणा के लिये यह भी आवश्यक है कि शब्द अपने अर्थ को व्यक्त करने में असमर्थ नहीं हो। यदि शब्द असमर्थ हो जायगा तो लक्षणा की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। 'गङ्गायां घोष' अर्थात् 'गङ्गा में घर' वाक्य से गंगा के तट पर घर अर्थ की प्रतीति कराने में पूरा रूप से समर्थ भी है। अतः शब्द के 'स्थलद्गति' अर्थात् अपने अर्थ को बताने में अप्रमथता न होने से भी यहाँ लक्षणा प्रवृत्ति नहीं हो पाती है।<sup>१</sup> लक्षणा के लिये मुख्याय बाध आवश्यक है। परन्तु कल्पित मुख्याय तट में यह बाधा नहीं है। और इस प्रकार बिना

१ एवमप्यनवस्था स्याद् या मूल क्षयकारिणी। का० प्र० २/१७

२ लक्ष्य न मुख्य नाप्यत्र बाधो योग फलेन नो।

न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्द स्थलद्गति।

मुख्याय बाध के ही शत्य, पावनत्व का बोध यदि हो तो शब्द की गति स्वल्पित नहीं मानी जाती है। अतः लक्षणा मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।

### तीसरा विकल्प —

लक्षणा द्वारा इस प्रकार व्यंग्याय बोध का निराकरण हो जाने पर लक्षणावादियों ने एक तीसरे विकल्प को समझ रखा है। इस विकल्प द्वारा क्वचित् बताना चाहते हैं कि यदि ध्वनिवादी प्रयोजन को लक्ष्याय नहीं मानते हैं तो ऐसी दशा में शत्य पावनत्व (शीतलता और पावनता) रूप प्रयोजन से युक्त ही तट की उपस्थिति लक्ष्याय द्वारा मानी जानी चाहिए। इस प्रकार प्रयोजन विशिष्ट तटादि की उपस्थिति के लक्षणा से मानते हैं।<sup>१</sup> अर्थात् 'गगाया घोष' में गगा का लक्ष्याय केवल तट न होकर शत्य पावनत्वादि युक्त गगातट होगा। इस प्रकार गङ्गा का तट पर घाघ कहने से केवल एक सामान्य अर्थ का ही बोध होता है। और गगा म घोष कहने से शीतलता पावनता से युक्त तट रूप एक विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है।

खण्डन—मम्मट ने प्रयोजन विशिष्ट तटादि का लक्षणा गम्य न मानते हुए कहा है कि प्रयोजन से युक्त (अर्थात् शीतलता से युक्त) लक्ष्याय मानना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल, इन दोनों में अंतर होता है।<sup>२</sup> अतः दोनों एक साथ मिलाये नहीं जा सकते। उपयुक्त उदाहरणों में लक्षणा प्र का ज्ञान का विषय तट है और इसका फल शीतलतादि का बोध है। इस प्रकार विषय और फल में पूर्व अपर भव सम्बन्ध होने से दोनों कायकारण रूप आपस में कहे जा सकते हैं। ज्ञान के विषय का 'कारण और ज्ञान के फल को 'काय' करते हैं। अतः दोनों की प्रतीति एक साथ कभी नहीं हो सकती। अतः प्रयोजन विशिष्ट लक्षणा वाला यह मत भी निराधार हो जाता है।

मम्मट ने यहाँ पर जो विषय और फल के ज्ञान के सम्बन्ध में उल्लेख किया है। उसका स्पष्टीकरण हो जाना आवश्यक है। मीमांसा और याद-

१ ननु पावनत्वादि धम युक्तमेव तट लक्ष्यते । गगायास्तटे इत्यतो ऽधिकस्यायस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा । 'तद्वि-  
यञ्जना' । का० प्र० द्वि० उ० पृ० ७५

२ प्रयोजनेन सहित लक्षणीय न युज्यते ।

ज्ञानस्य विषयो ह्य प्र फलम यदुदाहृतम् ।

का० प्र० २/१७-१८ पृ० ७१-७६

दशन की सहायता से पूर्व शब्दों के मत का खण्डन किया गया है। नयायिकों ने इसे 'प्रामाण्यवाद' के अंतर्गत स्पष्ट किया है। जिसे 'अनुभवसाय या सवित्ति' कहते हैं।

नयायिकों का अनुभवसाय—ज्ञान व ज्ञान को अनुभवसाय कहते हैं। इनके अनुसार पहिले विषय रहता है और उसके बाद ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जैसे, पहिले विषय घट आदि होते हैं। इय घट से पुन यह ज्ञान उत्पन्न होता है 'कि यह घटा है' ज्ञान के बाद 'मैं घट को जानता हूँ या 'मैं इस घट का ज्ञानवान् हूँ' इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार इसकी तीन सारणियाँ हैं (१) विषय की उपस्थिति (२) घट ज्ञान (३) घट ज्ञान का ज्ञान। इस प्रकार पहिले विषय की उपस्थिति जानी है। दूसरे क्षण में उस विषय का ज्ञान होता है। इस अनुभवसायत्मक ज्ञान कहते हैं। इसके उपरान्त 'मैं घट जा ता हूँ। इस ज्ञान का विषय घट ज्ञान है। इसमें पहिले ज्ञान का विषय घट और दूसरे ज्ञान का विषय घट ज्ञान है। इस ही घट ज्ञान कहते हैं। यह दूसरा ज्ञान पहिले ज्ञान का फल हुआ। इस प्रकार घट ज्ञान का विषय घट और उसका फल 'घटज्ञान' है। तथा इन दोनों की उत्पत्ति एक साथ न होकर इनमें प्रथम सम्बन्ध है। अतः विषय और फल दोनों में निश्चित रूप से भिन्नता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल दोनों में अन्तर है। प्रयोजन विशिष्ट लक्षणावादी मानने में यह बाधा है कि गंगा तीर विषय है और तट्य पावनत्वादि फल हैं। अतः इन दोनों की समकालीन उत्पत्ति संभव हो सकती है। इसी से प्रयोजन विशिष्ट लक्षणावाद का सिद्धांत याय शास्त्र के अनुकूल न होने से माय नहीं हो सकता है।

मीमांसकों की ज्ञातता—मीमांसकों की ज्ञातता नयायिकों के अनुभवसाय से भिन्नता रखती है। मीमांसक अनुभवसाय के स्थान पर ज्ञातता नामक धर्म को मानते हैं। 'ज्ञातता यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' है। इसके अनुसार यह 'घट' है। इस ज्ञान से घट में 'ज्ञातता नामक एक धर्म उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् 'यह घट है' इस प्रकार का ज्ञान होने के बाद मरे द्वारा घट जान लिया गया' इस प्रतीति में घट में रहने वाला ज्ञातता नामक धर्म भासता है। यह धर्म ज्ञान से पहिले घट में नहीं था। ज्ञान के बाद होने से ज्ञान से उत्पन्न माना जाता है। अर्थात् ज्ञान कारण है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञातता में पूर्वा

पर सम्बन्ध होने से तथा ज्ञान से नातता उत्पन्न होने से इन दोनों में कारण काय भाव सम्बन्ध हुआ। इस प्रकार इन मोमामक मत से भी विषय और फल में अन्तर होता है। इस आधार पर मम्मट ने कहा है कि 'ज्ञानस्य विषयो ह्ययं फलमयदुत्पाहतम्' अर्थात् ज्ञान का विषय और फल दोनों अलग अलग कहे गये हैं। 'गगाया धाप' में लक्षणा का विषय गगा तट है और लक्षणा का फल शत्य पावनत्वादि धर्म विनोप है। और इन दोनों में पूरापर सम्बन्ध है क्योंकि पहलू तट का बाद में शत्य पावनत्वादि का ज्ञान होता है। इस प्रकार यह निश्चित है कि दोनों में भिन्नता है। अतः यह निश्चित हुआ कि प्रयाजन विशिष्ट लक्षणावाद में तट रूप विषय और शत्यादि रूप फल की एक साथ उत्पत्ति न होने से दोनों का एक साथ प्रयोग समीचीन नहीं होगा, और यह सिद्धांत अमाय ठहरता है। तथा फलस्वरूप शत्य पावनत्व के बोध के लिये तो व्यञ्जना नामक एक अलग शक्ति माननी ही पड़ेगी। अतः लक्षणा द्वारा व्यंग्य बोध का निराकरण करते हुए व्यञ्जना की इस प्रकाश की स्थापना मम्मट ने द्वितीय उक्तानाम की है। साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि लक्षित अर्थ में विक्षेप हो सकता है। अर्थात् पहिले लक्षणा में उसके विषय केवल तट की उपस्थिति होती है और बाद में उस प्रयाजन रूप फल की बताने के लिये लक्षणा मूला व्यञ्जना में उस तट रूप लक्ष्यार्थ में शत्य पावनत्वादि का बोध हो सकता है।<sup>१</sup>

अतः लक्ष्याधभूत तटानि में प्रयोजन रूप जिस शत्य पावनत्वादि धर्मों की प्रतीति होती है उसका ज्ञान अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या से न होकर व्यञ्जना नामक एक भिन्न व्यापार से ही हो सकता है और इसे ही व्यञ्जन्, ध्वनन्, द्योतन आदि नामों से वाच्य माना जाता है।

इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के समयको ने ध्वनि विरोधी सभी मतों का निराकरण करने के लिये प्रबलतम तर्कों को उपस्थित किया है और अन्य सभी सम्प्रदायों की मायताजा को ध्वनि की परिधि में लाकर ध्वनि और व्यञ्जना की व्यापकता और सावभौमता की सिद्धि अकाट्य रूप में कर दी गई है।

१ विविष्टे लक्षणानु, विनोपारयन्तु लक्षिते ।



इन्होंने निम्नलिखित छः विरोधी सम्प्रदायों का खण्डन किया है—  
क—अभिधावादी

१ मीमांसक

- ( i ) कुमारिल भट्ट—अभिहितावयवानी—तात्पर्यवादी
- ( ii ) प्रभाकर भट्ट—अवितामिधावादी—अभिधावादी
- ( iii ) भट्ट साल्लट—दीर्घ दीर्घतर अभिधाभ्यापारवादी
- ( iv ) मुकुल भट्ट—अभिधावृत्तिमातृवादी
- ( v ) निमित्त, नमित्तिकानुसार अभिधा से व्यञ्जना मानने वाले

ख—साहित्यिकों की अभिधा में व्यञ्जना का अन्तर्भाव

- ( i ) कुतक—वञ्चोक्ति

ग—वेदान्ती मत—अखण्डतावादी

घ—वैयाकरण मत

ङ—नैयायिक मत—महिम भट्ट का अनुमान  
स्मृति की प्रक्रिया

च—धनञ्जय और घनिष् का मत—

और अन्ततोगत्वा ध्वनि सिद्धात की जड़ इतनी मजबूत कर दी गई है कि कोई भी विरोधी पक्ष तदुपरान्त इसके विरोध का साहस नहीं कर सका। इस सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विजय यही है कि यह प्रमुख सिद्धात सिद्ध हुआ और अन्य सम्प्रदाय इसके अग रूप में माय हुए

## ग्रन्थो एवं लेखकों की सूची

- |                                     |                                    |
|-------------------------------------|------------------------------------|
| १ अग्नि पुराण                       | २६ जयन्त                           |
| २ अभिनव गुप्त                       | २७ जमिनीय सूत्र भाष्य (शबर स्वामी) |
| ३ अभिनव भारती                       | २८ तक भाषा                         |
| ४ आनन्द-बोधन                        | २९ तत्र यातिक                      |
| ५ उपनिषद्                           | ३० दण्डी                           |
| ६ उदयन                              | ३१ दिनकरीस                         |
| ७ उद्भट                             | ३२ धनञ्जय (दश रूपक)                |
| ८ उद्योत टीका                       | ३३ धनिक (भवलोक टीका)               |
| ९ काव्य प्रकाश                      | ३४ ध्वयालोक                        |
| १० काव्यादश (दण्डी)                 | ३५ ध्वयालोक लोचन                   |
| ११ काव्यादश-सवेत टीका (सोमेदवर)     | ३६ नागेश (रस-मगाधर के टीकाकार)     |
| १२ काव्यमुद्रासन (हेमचन्द्र)        | ३७ नागेश भट्ट (परम लघु-मञ्जूषा)    |
| १३ काव्यालकार (रुद्रट)              | ३८ नयायिक                          |
| १४ कालिदास                          | ३९ नव्य नयायिक                     |
| १५ कुमारिल भट्ट                     | ४० मायारत्नमाला                    |
| १६ कुवल्यानन्द (अप्पय दीक्षित)      | ४१ नाट्य शास्त्र                   |
| १७ कुन्तक                           | ४२ पतञ्जलि                         |
| १८ कोण्ड भट्ट (शक्तिवाद के टीकाकार) | ४३ प्रभाकर भट्ट                    |
| १९ कृष्ण भट्ट (शक्तिवाद के टीकाकार) | ४४ प्रदीप टीका नागोजी भट्ट         |
| २० गदाधर (शक्तिवाद)                 | ४५ पाणिनी                          |
| २१ गौतम (न्याय सूत्र)               | ४६ पाथसारथि मिश्र (न्याय रत्नमाला) |
| २२ गगनाथ भा                         | ४७ परम लघु मञ्जूषा                 |
| २३ चन्दोरकर                         | ४८ भट्टोजि दीक्षित                 |
| २४ आचार्य जगन्नाथ (रस गगाधर)        | ४९ भरत                             |
| २५ जयदेव                            | ५० भट्ट नायक                       |

इ होने निम्नलिखित ध्वनि विरोधी सम्प्रदायों का स्रष्टन किया है—  
क—अभिधावादी

### १ मीमांसक

- ( १ ) कुमारिल भट्ट—अभिहितावयवादी—सात्पयवादी
- ( II ) प्रभाकर भट्ट—अविताभिधावादी—अभिधावादी
- ( III ) भट्ट सोल्लट—दीघ दीघतर अभिधाध्यापारवादी
- ( IV ) मुकुल भट्ट—अभिधावृत्तिमातकावादी
- ( V ) निमित्त नमित्तिकानुसार अभिधा से व्यजना मानने वाले

ख—साहित्यिकों की अभिधा में व्यजना का अन्तर्भाव

- ( १ ) कृतक—वशोक्ति

ग—वेदान्ती मत—अस्रष्टतावादी

घ—वयाकरण मत

ङ—नयायिक मत—महिम भट्ट का अनुमान  
स्मृति की प्रक्रिया

च—धनञ्जय और घनिक का मत—

और अन्ततोगत्वा ध्वनि मिटाने की जड़ इतनी मजबूत कर दी गई है कि कोई भी विरोधी पक्ष तदुपरान्त इसके विरोध का साहस नहीं कर सता। इस सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विजय यही है कि यह प्रमुख मिटाने त मिटाने हुआ और अन्य सम्प्रदाय हमने अग रूप में माय हुए

---

## ग्रन्थों एवं लेखकों की सूची

१ अग्नि पुराण	२६ जयन्त
२ अमिनव गुप्त	२७ जमिनीय सूत्र भाष्य (शबर स्वामी)
३ अमिनव भारती	२८ तक भाषा
४ आनन्द-वधन	२९ तत्र चार्तिक
५ उपनिषद्	३० दण्डी
६ उदयन	३१ दिनकरीस
७ उद्दमट	३२ धनञ्जय (दश रूपक)
८ उद्योत टीका	३३ धनिक (अवलोक टीका)
९ काय प्रकाश	३४ ध्वयालोक
१० काव्यादश (दण्डी)	३५ ध्वयालोक लोचन
११ काव्यादश-सकेत टीका (सोमेश्वर)	३६ नागेश (रस-मगाधर के टीकाकार)
१२ काव्यमुद्रासन (हिमचन्द्र)	३७ नागेश भट्ट (परम लघु-मञ्जूषा)
१३ काव्यालवार (रुद्रट)	३८ नयायिक
१४ कालिदास	३९ नव्य नयायिक
१५ कुमारिल भट्ट	४० पायरत्नमाला
१६ कुबल्यानन्द (अप्यय दीक्षित)	४१ नाटय शास्त्र
१७ कुम्तक	४२ पतञ्जलि
१८ कोण्ड भट्ट (शक्तिवाद के टीकाकार)	४३ प्रभाकर भट्ट
१९ कृष्ण भट्ट (शक्तिवाद के टीकाकार)	४४ प्रदीप टीका नागोजी भट्ट
२० गदाधर (शक्तिवाद)	४५ पाणिनी
२१ गौतम (न्याय सूत्र)	४६ पायसारथि मिश्र (न्याय रत्नमाला)
२२ गगनाध भ्वा	४७ परम लघु मञ्जूषा
२३ चन्द्रोरकर	४८ भट्टोजि दीक्षित
२४ आचार्य जगन्नाथ (रस गगाधर)	४९ भरत
२५ जयदेव	५० भट्ट नायक

५१ महोभट्ट	८१ वाग्मयायन
५२ आशाय भक्त मित्र	८२ यामन (वाग्मयायनार (मून-वति))
५३ भामह	८३ यामनाशाय भक्तकीकर
५४ भोजराज	८४ विवेकख्याति (प्रभाकर)
५५ भम्मट	८५ धार्मिक दान
५६ भोगव	८६ वेत्तरकर
५७ भणन मिथ	८७ यथाशयन सिद्धांत मन्त्रुषा
५८ आशाय भङ्गत	८८ आशाय विश्वेश्वर
५९ मनोरथ कवि	८९ आशाय विश्वनाथ
६० मधु मूर्त्तौ विवृति (भक्ति वियक टीका)	९० विद्यानाथ (प्रताप रतीय)
६१ महिम भट्ट (ध्यान शिष्य)	९१ कृति-व्यापिन
६२ मयूर कवि	९२ वदांत दान
६३ माघ	९३ सातुब
६४ माघवी टीका (सहितवाग्मयी)	९४ सनितवाग्म
६५ मुकुल भट्ट (अभिधावति मातवा)	९५ नवर स्वामी
६६ मीमासा मून	९६ दान-व्यापार
६७ मीमासा	९७ रत्नक-वातिक (कुमारिल)
६८ माणिकमचंद्र (सकत टीका)	९८ श्रीकर
६९ यास्क (निश्चल)	९९ रावेत-टीका
७० रत्नेश्वर	१०० डा० सत्यप्रत सिंह
७१ रत्न गगाधर	१०१ सम्प्रदाय प्रकाशनी टीका
७२ राजशेखर	१०२ सरस्वती कण्ठाभरण
७३ राजानक रथ्यक	१०३ साहित्य चूडामणि
७४ रुद्रकोश	१०४ साहित्य-क्षण
७५ रुद्रट (वाग्मयायनार)	१०५ सिद्धांत मुक्तावली
७६ भट्ट लोहलट	१०६ साहित्यनाथ (शृङ्खु विभाग टीका)
७७ वक्रोक्तिजीवित	१०७ डा० हरिदत्त
७८ वाग्मट्ट	१०८ दोमेन्द्र
७९ वाग्मट्ट (द्वितीय)	१०९ झाइडेन
८० वाक्य पदीय	११० बेन जानसन
	१११ पीटसन द
	११२ भोला नवर व्यास

